* ओ३म् *

वैशेषिक-दर्शन ।

पं० राजाराम (प्रोफेसर डी० ए० वी० कालिज लाहौर)

रचित

भाषा-टीका और व्याख्यान सहित

बाम्बे मशीन प्रेस लाहौर में पं० हर भगवान

मैनेजर के प्रबन्ध से छपवाया ।

प्रथमावृत्तिः	वि० सं० १९७६	मूल्य १।) रुपया
६००	सन् १९१९ ई०	Price 1-4-0

ओ३म्

भूमिका

षड्दर्शन — आर्य वृद्धों के रचे हुए छः तर्कशास्त्र जगत्प्रसिद्ध हैं, जिन को षड् शास्त्र वा षड्-दर्शन कहते हैं। इनके नाम ये हैं—वैशेषिक, न्याय, साङ्ख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। इन में से पूर्वमीमांसा मीमांसा नाम से, और उत्तरमीमांसा वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है।

दर्शनों के रचने का उद्देश्य — दर्शनों के रचने का उद्देश्य यह था, कि लोगों को विचार-स्वातन्त्र्य की शिक्षा दी जाए, और उन की बुद्धियों को सीधे मार्ग पर डाल कर उन्नत किया जाय। क्योंकि बुद्धि की वृद्धि और विचार स्वातन्त्र्य में ही मनुष्यों का कल्याण है, इसी में मनुष्य के इस लोक और परलोक का सुधार है। हां यह निःसंदेह है, कि विचार-स्वातन्त्र्य में भी इन सूक्ष्मदर्शी दर्शनकारों ने वैदिक मार्ग को सर्वथा सरल और सीधा देखा, अतएव विचार स्वातन्त्र्य की शिक्षा देते हुए भी वैदिक धर्म की पूर्णतया रक्षा की, इसी लिए ये दर्शन वेदों के उपांग कहलाये।

दर्शनकार मुनि — दर्शनों के बनाने वाले मुनि कहलाते हैं। जिन के नाम ये हैं—कणाद, गोतम, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास। मुनि का अर्थ है मनन करने वाला, तर्क से निश्चय करने वाला, वह पुरुष, जो सत्तर्क से सचाई का ठीक पता लगा लेता है, और युक्ति द्वारा औरों का निश्चय बिठा देता है, उस को मुनि कहते हैं। आर्यजाति में ऋषि

और मुनि दोनों बड़े आदर के शब्द हैं । जो मन्त्रद्रष्टा हुए, जिन्हों ने धर्म को साक्षात् किया, वे ऋषि कहलाए, और जिन्हों ने उन सचाइयों का मनन किया और कराया, वे मुनि कहलाए।

वैशेषिक सूत्रकार कणाद मुनि — वैशेषिक सूत्रों के कर्ता कणाद मुनि हुए हैं। इन का कोई जीवन-चरित्र नहीं मिलता, इसलिए इनके देश काल और जीवन वृत्तान्त के विषय में निश्चित रूप से इतना ही कह सकते हैं, कि ये कश्यप ऋषि की सन्तान परम्परा में उलूक मुनि के पुत्र हुए हैं। वायु पुराण पूर्व खण्ड अध्याय २३ में लिखा है, कि २७ वें परिवर्त में जब जातूकर्ण्य व्यास हुए, उस समय प्रभासक्षेत्र में सोमशर्मा ब्राह्मण रहते थे, जो बड़े तपस्वी और योगी थे, कणाद मुनि इस महात्मा के शिष्य थे। कणाद स्वय भी योगी थे, इन की बुद्धि बड़ी शुद्ध और चरित्र बड़ा पवित्र था। वैशेषिक सम्प्रदाय के आचार्य यह मानते और लिखते आरहे हैं, कि इस मुनि ने समाधि द्वारा महेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक शास्त्र रचा था।

कणाद रचित दर्शन के नाम — कणाद मुनि ने इस दर्शन को वैशेषिक नाम इस कारण दिया, कि इस मे मूल पदार्थों का जो परस्पर विशेष (भेद) है, उस का निरूपण किया है। विशेष शब्द से वैशेषिक शब्द 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (अष्टा ४।३।७) सूत्र से 'विशेष के बोधक शास्त्र' के अर्थ में बना है "विशेषं पदार्थभेदं अधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्' विशेष अर्थात् पदार्थों के भेद का बोधक वैशेषिक है। इस दर्शन के रचने में कणादमुनि का यह उद्देश था, कि इस विश्व में

जितने मूल पदार्थ हैं, उन में एक से दूसरे की जो विशेषता है, उस की शिक्षा दी जाय, क्योंकि ऐसा ज्ञान व्यवहार और परमार्थ दोनों का उपयोगी है। मनुष्य का हरएक काम इष्ट की प्राप्ति वा अनिष्ट के परिहार के लिए होता है। पर इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार होता तब है, जब उस को उपाय का यथार्थ ज्ञान हो, और उपाय का यथार्थ ज्ञान तभी होता है, जब पदार्थों के परस्पर विशेष ज्ञात हों। जिस अंश में विशेष का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, वहीं उपाय में भूल होती है, तब मनुष्य का किया कराया काम निष्फल चला जाता है, और कभी २ उलटा फल भी दे जाता है, सुख के लिए किया काम दुःख उत्पन्न कर देता है, संपत्ति के लिए किया काम विपद् में डाल देता है। इस कारण तो पदार्थों का यथार्थ ज्ञान व्यवहार का उपयोगी है। और परमार्थ का उपयोगी इस प्रकार है, कि आत्मा का दूसरे पदार्थों से भेद तभी जाना जा सकता है, जब यह ज्ञात हो, कि वे गुण जो आत्मा के माने गये हैं, वे उन तत्त्वों में से किसी में भी नहीं पाये जाते, जिन से शरीर बना है, और न ही ये उन तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के जानने के लिए सारे ही पदार्थों के जानने की आवश्यकता आ पड़ती है। सो व्यवहार और परमार्थ दोनों के उपयोगी विशेष प्रदर्शक दर्शन का नाम मुनि ने वैशेषिक यह अन्वर्थ नाम रक्खा। यही इस का मुख्य नाम है। जो कि मुनि का अपना रक्खा हुआ है। पीछे मुनि के नाम पर काणाद दर्शन और औलूक्य दर्शन ये दो नाम दूसरों ने इस दर्शन को दिये हैं।

वैशेषिक दर्शन के मूलसूत्र और उन पर व्याख्यान

वैशेषिक के मूलसूत्र भगवान् कणाद ने रचे है। उन पर जो भाष्य इस समय मिलता है, वह प्रशस्त मुनि का रचा हुआ प्रशस्त पाद भाष्य * नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य पर (३) (क) श्री उदयनाचार्य विरचित 'किरणावली' नामी एक टीका है, और (ख) भट्ट श्री श्रीधराचार्य विरचित 'न्याय कन्दली' नामी दूसरी टीका है, और जगदीश भट्टाचार्य कृत 'भाष्य सूक्ति' तीसरी टीका है, और 'भिक्षुवार्तिक' चौथी टीका है। और शंकरमिश्र कृत 'कणाद रहस्य' पांचवीं है। उदयनाचार्य और श्रीधराचार्य दोनों एक ही शताब्दी में हुए हैं। उदयनाचार्य ने एक 'लक्षणावली' नामी ग्रन्थ भी रचा है, उस के अन्त मे उन्हों ने उस के रचने का समय यह दिया है—'तर्काम्बराङ्क प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्' अर्थात् शकसंवत्के९०६वर्ष(वि०सं० १०४१)बीतने पर उदयन ने लक्षणावली बनाई। और श्रीधरने न्याय कन्दली के अन्त में इस की रचना का काल यह दिया है—'त्र्यधिक दशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्याय कन्दली रचिता। श्रीपाण्डुदासयाचित भट्ट श्री श्रीधरेणेयम्' अर्थात् शक संवत् ९१३(=विक्रम स० १०४८) में श्री पाण्डुदास की प्रार्थना से भट्ट श्री श्रीधर ने यह न्याय कन्दली रची। (४) इस के आगे किरणावली

* 'प्रशस्तपाद भाष्य' से पहले एक और भाष्य के होने का 'किरणावली' और 'कन्दली' दोनों से पता चलता है, और 'किरनावली' भास्कर, में पद्मनाभ ने उस भाष्य को रावण प्रणीत लिखा है।

ार (क) एक तो वर्धमानोपाध्याय नामी विरचित 'किर-
णावली प्रकाश' नामी व्याख्यान है, (ख) और दूसरा पद्म-
ाभ विरचित 'किरणावली भास्कर' नामी व्याख्यान है। (५)
किरणावली प्रकाश' पर भगीरथ ठक्कुर विरचित 'द्रव्य प्रका-
शिका' और श्रीरघुनाथ भट्टाचार्य कृत 'गुण प्रकाश विवृति'
ीका है, जो 'गुणदीधिति' नाम से प्रसिद्ध है। (६) 'गुण
प्रकाश विवृति' पर (क) एक तो मथुरानाथ तर्कवागीश विर-
चित 'गुण प्रकाश विवृति रहस्य' नामी टीका है, जो 'गुणदी
धिति माथुरी, नाम से प्रसिद्ध है। मथुरानाथ ने गुण प्रकाश
विवृति के मूल ग्रन्थ 'गुणप्रकाश' की भी व्याख्या की है,
ो 'गुणप्रकाशरहस्य' नाम से प्रसिद्ध है। और 'गुणप्रकाश'
के मूल ग्रन्थ 'गुण किरणावली' की भी व्याख्या की है, जो
गुण किरणावली रहस्य' नाम से प्रसिद्ध है। (ख) दूसरी
द्र भट्टाचार्य कृत 'गुणप्रकाश विवृति भावप्रकाशिका' नामी
ीका है, जो 'गुणप्रकाशविवृतिपरीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है, (ग)
ौर तीसरी राम कृष्ण कृत (घ) और चौथी जयराम भट्टा-
ार्य कृत व्याख्या है॥ भाष्यादि सारे ग्रन्थ दो भागों में
ग्रन्थकारों ने बांटे हैं। आरम्भ से आत्मा के निरूपण पर्यन्त
द्रव्यग्रन्थ, उस से अगला सारा ग्रन्थ गुणग्रन्थ कहा जाता है।
नमें से प्रशस्तपाद भाष्य और उस पर 'न्यायकन्दली' तो
छप चुके हैं, 'किरणावली' और उस पर 'किरणावली' प्रकाश
ेशियाटिक सोसायटी कलकत्ता की ओर से छप रहे हैं।

जो १९११ ई० से आरम्भ हो कर अभी तक थोड़े ही छपे हैं शेष अभी अमुद्रित हैं।

अन्य भाष्यकार तो मूलसूत्रों की व्याख्या भी करते हैं, और सूत्रोक्त विषयों का स्पष्टीकरण भी करते हैं। पर वैशेषिक भाष्यकार (प्रशस्तमुनि) सूत्रों की व्याख्या नहीं करते, किन्तु एक विषय के समस्त सूत्रों को मन में रखकर सूत्रों का अवतरण प्रतीकादि दिये विना ही विषय का स्पष्टीकरण कर देते हैं। इस कारण सूत्रों के पठन पाठन के लिए सीधा सूत्रों पर अन्य टीकाएं रची गईं। शंकरमिश्र विरचित 'सूत्रोपस्कार' नामी पुरानी टीका से पूर्व भारद्वाज वृत्ति थी, जिस का पता शङ्कर मिश्र ने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' सूत्र की व्याख्या में दिया है। पर यह टीका अभी तक मिली नहीं। इस समय कुछ नई टीकाएं संस्कृत और भाषा में हो रही है, जिन में से श्री जयनारायण तर्क पञ्चानन कृत टीका बहुत ही उत्तम है।

वैशेषिक सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय — वैशेषिक सूत्र १० अध्यायों में विभक्त हैं। अध्याय क्रम से सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय ये है। प्रथम अध्याय में समवाय सम्बन्ध रखने वाले सारे पदार्थों का कथन है। द्वितीय में द्रव्यों का निरूपण है। तृतीय में आत्मा और अन्तःकरण का लक्षण है। चतुर्थ में शरीर और तदुपयोगी पदार्थों का विवेचन है। पञ्चम में कर्म का प्रतिपादन है। षष्ठ में श्रौत धर्म का विवेचन है। सप्तम में गुणों का और समवाय का प्रतिपादन है। अष्टम में ज्ञान की

उत्पत्ति और उस के साधनादि का निरूपण है। नवम में बुद्धि के भेदों का प्रतिपादन है। दशम में आत्मा के गुणों के भेद का प्रतिपादन है। प्रत्येक अध्याय में दो दो आन्हिक हैं। आन्हिक का अर्थ है, एक दिन का काम। अर्थात् इस दशाध्यायी को कणाद मुनि ने २० दिनों में रचा था।

सूत्रों का निर्णय } कणाद मुनि ने जो सूत्र रचे थे, उन में कुछ न्यूनाधिक वा पाठान्तर हुए हैं वा नहीं, और यदि हुए हैं, तो किस प्रकार अब फिर मूल सूत्रों को उसी रूप में ला सकते हैं, जिस रूप में कि मुनि ने रचे थे, इस बात का निर्णय करना अतीव आवश्यक है।

पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शर्म्मा ने जो सूत्रपाठ छपवाया है, उस की पादटीका में पाठभेद दिये हैं; जो उन को हस्त लिखित पुस्तकों में मिले हैं। उन से यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि न केवल पदभेद ही हुए हैं, किन्तु सूत्रभेद भी हुए हैं। अब इनको कणादोक्त रूप में लाने के लिए क्या प्रयत्न होना चाहिये, पाणिनि विरचित व्याकरण सूत्रों में भी काशिकाकार ने कुछ भेद किया है, वह महाभाष्य के अनुसार ठीक हो सकता है। इसी प्रकार यदि प्रशस्तपाद भाष्य भी सूत्रों का व्याख्यान होता, तो भाष्य के अनुसार सूत्रों को कणादोक्त रूप में लाना सरल होता, पर भाष्य तो जैसा पूर्व कहा है, सूत्रों का व्याख्यान नहीं। अब सूत्रों पर साक्षात् कोई प्राचीन व्याख्या मिलती नहीं। शंकरमिश्र तो मथुरानाथ तर्कवागीश के शिष्य कणाद का भी शिष्य था। अतएव बहुत प्राचीन नहीं किन्तु प्रशस्तपाद भाष्य की

व्याख्या में उदयनाचार्य औरश्रीधराचार्य दोनोंने ही 'अस्मद् बुद्धि-भ्योलिङ्गमृषेः' इस को सूत्रत्वेन उद्धृत किया है। शंकरमिश्र को इस का पता ही नहीं। और पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शर्म्मा को जो एक बहुत पुराना (उन के अनुमानानुसार ४०० वर्ष से पहले का) लिखा हुआ सूत्रपाठ मिला है, उस में यह सूत्र है। और उक्त शर्मा जी के अनुसार 'सूत्र मात्रावलम्बेन निरालम्बेपि गच्छतः' सूत्र मात्र का सहारा पकड़ कर विना सहारे चलने लगा हूं, कहने वाले शंकरमिश्र ने सूत्र छोड़े भी हैं, कहीं एक ही सूत्र के दो सूत्र भी बना डाले हैं, कहीं दो को एक किया है, कहीं पाठ की कल्पना भी की है। यह सत्य है, कि सर्वथा शंकर मिश्र विरचित उपस्कार सूत्रनिर्णय में प्रमाण नहीं हो सकता।

पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद को जो पुराना लिखा हुआ सूत्रपाठ मिला है, उस के अनुसार दसों अध्यायों मे सूत्र संख्या क्रमशः यह है ५०+६४+३७+२५+४३+३०+४९+१७+२८+१९ =३५९ और उपस्कार के अनुसार ४८+६८+४०+२४+४४ +३२+५३+१८+२८+१६=३७० इस प्रकार अध्याय २ मे भेद है।

तो क्या फिर अब सूत्रो को अपने मूलरूप में लाना असम्भव तो नहीं होगया? नहीं, तथापि इस के लिए प्रयत्न सविशेष होना चाहिये। एक तो प्राचीन हस्त लिखित सूत्रपाठों का संग्रह करना चाहिये, दूसरा भारद्वाज वृत्ति और रावण भाष्य को उपलब्ध करना चाहियें, तीसरा किरणावली आदि प्राचीन व्याख्याओं मे उद्धृत सूत्रों का संग्रह करना चाहिये, तथा शङ्करा-

चार्य आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों का संग्रह करना चाहियें, तब बड़ी प्रबल सम्भावना है, कि सारे सूत्र अपने मूलरूप में लाए जा सकेंगे। इस समय इस काम को हाथ में लेने की हमारे पास पूरी सामग्री नहीं, तथापि यथा शक्य इस काम को प्रवृत्त रखते हुए सम्प्रति मुद्रित सूत्रों के आधार पर व्याख्यान आरम्भ करते हैं॥

व्याख्यान का ढंग } वैशेषिक सूत्रों की शैली हमने यह रक्खी है, कि जहां अर्थ देने से ही पद पदार्थ भी स्पष्ट हो जाते हैं, वहां तो सूत्रार्थ ऐसा स्पष्ट करके लिख दिया है, कि उसी से पद पदार्थ का भी यथार्थ बोध हो जाता है, और जहां पदच्छेद और पदार्थोक्ति की आवश्यकता ज्ञात पड़ी है, वहां पदच्छेद और पदार्थ भी दे दिया है। सूत्रार्थ के अनन्तर व्याख्यान रक्खा है, उस में बड़ी सरल और सुबोध भाषा में वैशेषिक के गूढ़ विषयों के मर्म खोल २ कर समझा दिये हैं।

सम्पादक

ओ३म्

वैशेषिक दर्शन

प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक

संगति—शास्त्रारम्भ की प्रतिज्ञा—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ।१।

अर्थ—अब, यहां से, हम धर्म का व्याख्यान करेंगे ।

व्याख्यान—'अथ' आरम्भ का द्योतक होता है, जैसा कि 'इति' समाप्ति का, इसलिए ग्रन्थारम्भ में 'अथ' देते हैं ।

'अतः' यहां से। इस से आगे, अर्थात् अगले ग्रन्थ में। यद्यपि, इस शास्त्र में निरूपण तो बाहुल्य से पदार्थों का ही है, तथापि पदार्थों का तत्त्वज्ञान धर्म से ही उत्पन्न होता है, (देखो सूत्र ४) इस लिए धर्म की ही प्रधानता से, उसी के निरूपण की प्रतिज्ञा की है ।

सङ्गति—धर्म कहते किसको है, और उससे फल क्या मिलता है?

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । २ ।

अर्थ—जिस से यथार्थ उन्नति और परम कल्याण की सिद्धि होती है, वह धर्म है *

---

* अभ्युदय=तत्त्वज्ञान, उस के द्वारा मोक्ष की सिद्धि जिस से होती है, वह धर्म है (उदयनाचार्य)

व्या०—आत्मबल यथार्थ उन्नति है, और मोक्ष परम कल्याण है। धर्म के ये दोनों फल होते हैं, धर्म से आत्मबल बढ़ता है। आत्मबल से लोक परलोक दोनों सुखदायी बन जाते हैं। आत्म बल के साथ सम्पदाएं भागी चली आती हैं, और यदि कोई विपद् भी आ जाती है, तो आत्मबल उस को भी सम्पद् ही बना लेता है, क्योंकि आत्मबल वाला विपद् में भी सम्पद् के समान ही सन्तुष्ट रहता है, प्रत्युत विपद् उस के आत्मबल को और बढ़ा देती है। अतएव आत्मबल ही मनुष्य की यथार्थ उन्नति है। और यही परलोक में साथ जाकर उच्च जन्म और स्वर्ग का हेतु होता है। और फिर यह धर्म ही है, जो हृदय को शुद्ध बनाता है, जिस से आत्म का तत्त्वज्ञान हो कर मोक्ष मिलता है।

इस प्रकार धर्म अभ्युदय का तो साक्षात् कारण है, और मोक्ष का तत्त्वज्ञान द्वारा कारण है।

सङ्गति—ऐसे धर्म का प्रतिपादक शास्त्र और उस की प्रमाणता

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामण्यम् । ३।

अर्थ— उस के प्रतिपादन से वेद की प्रमाणता (है)*

---

* 'तत्' शब्द पूर्व का परामर्शक होता है, पर प्रसिद्ध (=प्रसिद्धि सिद्ध) अपूर्वोक्त का भी परामर्शक होता है, जैसे 'तदप्रामाण्य मनृत व्याघात पुनरुक्तदोषेभ्यः' (न्या) में 'तत्' शब्द पूर्व न कहे भी वेद का परामर्शक है। इसी प्रकार यहां 'तत्' शब्द अपूर्वोक्त भी ईश्वर का परामर्शक है। तब अर्थ यह होगा—उस जगत्प्रसिद्ध ईश्वर ने प्रतिपादन किया है, इस लिए वेद का प्रामाण्य है। सो ईश्वर का वचन होने से वेद का प्रामाण्य निर्बाध सिद्ध होते हुए वेदप्रमाणक धर्म व्याख्यान के योग्य है, यह भाव है (उदनाचार्य, और कई अन्य व्याख्याकार)

व्या०-धर्म का जो लक्षण पूर्व किया है, कि 'याथर्थ उन्नति और मोक्ष की सिद्धि जिस से हो वह धर्म है' वैसे धर्म के प्रतिपादन करने से धर्म के विषय में वेद को प्रमाण माना जाता है, क्योंकि जो जिस विषय में प्रामाणिक अर्थ का प्रतिपादन करता है, वही उस विषय में प्रमाण होता है ।

संगति-लक्षण और प्रमाण से धर्म की सिद्धि करके, धर्म से मोक्ष की सिद्धि में वैशेषिक शास्त्र की उपयोगिता दिखलाते हैं—

धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुण गुणकर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम् । ४ ।

अर्थ-धर्म विशेष से उत्पन्न हुआ जो, द्रव्य, गुण, कर्म,सामान्य, विशेष और समवाय (इतने) पदार्थों का साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्त्वज्ञान,* उस से मोक्ष होता है ।

व्या०-इस जन्म वा पूर्व जन्म में किये पुण्य कर्म से द्रव्यादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है, तव मनुष्य अपने स्वरूप को शरीर से अलग साक्षात् करके वन्धन से मुक्त हो जाता है ।

धर्म, धर्मी, साधर्म्य, वैधर्म्य-जिस का स्वरूप किसी दूसरे

---

* साधर्म्य=समान धर्म=सांझा धर्म, और वैधर्म्य=विरुद्ध धर्म अर्थात् इस पदार्थ का यह २ धर्म तो उस २ पदार्थ के साथ मिलता है, और यह इस का अपना अलग धर्म है, दूसरे किसी के साथ नहीं मिलता, इस प्रकार हरएक पदार्थ का जब पूरा ज्ञान हो जाय तब मोक्ष होता है ।

के आश्रित प्रतीत हो, उस को धर्म कहते हैं, और जो उस का आश्रय है, उस को धर्मी कहते हैं। गन्ध धर्म है, क्योंकि वह पुष्प के आश्रित प्रतीत होता है, पुष्प धर्मी है, क्योंकि गन्ध उस के आश्रय है। दौड़ना धर्म है, क्योंकि वह घोड़े के आश्रित प्रतीत होता है, घोड़ा धर्मी है, क्योंकि वह दौड़ का आश्रय है। गन्ध में भी गन्धपना धर्म है, क्योंकि वह गन्ध में प्रतीत होता है, गन्ध धर्मी है, क्योंकि उस में गन्धपन प्रतीत होता है। सो गन्ध पुष्प का धर्म है, पर गन्धपन का धर्मी भी है। इसी प्रकार सर्वत्र धर्मधर्मिभाव जानना। जो अनेकों का सांझा धर्म हो, उस को साधर्म्य वा समान धर्म कहते हैं, जैसे गन्ध पुष्प और इतर का साधर्म्य=समान धर्म है। और जो अपना विशेष धर्म हो, उस को वैधर्म्य वा विशेष धर्म वा विरुद्ध धर्म कहते हैं, जैसे पंखड़ियां पुष्प का इतर से वैधर्म्य है, और द्रवत्व इतर का पुष्प से वैधर्म्य है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा जब समस्त पदार्थों का तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब पुरुष मुक्त होता है। इसलिए इस शास्त्र में समस्त पदार्थों और उन के धर्मों का निरूपण आरम्भ करते हैं।

यहां छः पदार्थों का कथन भाव पदार्थों के अभिप्राय से है, वस्तुतः अभाव भी एक अलग पदार्थ के रूप में मुनि को अभिप्रेत है अतएव 'कारणाभावात् कार्याभावः' (१।२।१), और "क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत्" (९।१।१) इत्यादि सूत्रों की असङ्गति नहीं। किन्तु अभाव का निरूपण

प्रतियोगि* निरूपण के अधीन होता है, इस लिए उस का अलग उद्देश नहीं किया।

पदार्थों की शिक्षा देने के तीन क्रम हैं—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। बतलाने योग्य पदार्थ का निरा नाम लेना उद्देश है, जैसे यहां द्रव्य, गुण इत्यादि नाम लिए हैं, यह पदार्थों का उद्देश है। जिस का नाम लिया गया है, उस को उद्दिष्ट कहते हैं, जैसे यहां द्रव्य, गुण। असाधारण धर्म लक्षण होता है, जैसे उष्ण स्पर्श तेज का, क्योंकि उष्ण स्पर्श तेज का असाधारण धर्म है, विना तेज के कहीं नहीं पाया जाता, पत्थर और पानी आदि जब गर्म होते हैं, तो वे तेज के संयोग से ही होते हैं, स्वतः उन में गर्मी नहीं। वह गर्मी तेज की ही होती है, इसलिए उष्ण स्पर्श तेज का असाधारण धर्म है, अतएव यह तेज का लक्षण है। जिस का लक्षण हो उस को लक्ष्य कहते हैं, और जब यह जितलाना हो, कि इस का लक्षण हो चुका है, तो उस को लक्षित कहते हैं। लक्षित का यह लक्षण बन सकता है वा नहीं, इस विचार का नाम परीक्षा है, परीक्षा के योग्य को

---

* 'यस्याभाव· स प्रतियोगी' जिस का अभाव हो, वही अभाव का प्रतियोगी होता है। जैसे नीलाभाव का प्रतियोगी नील है, नील और नीलाभाव में से नील के ही जानने की आवश्यकता है, जो नील को जानता है, वह, 'यहां नील नहीं, वा यह नील नहीं' इस बात को अपने आप जान लेता है। और जो नील को नहीं जानता, उस को 'यहां नील नहीं, वा यह नील नहीं' ज्ञान भी नहीं हो सकता, अतएव अभाव का निरूपण प्रतियोगिनिरूपण के अधीन है।

परीक्ष्य कहते हैं, और जब परीक्षा में पूरा उतर जाय, तो उस को परीक्षित कहते हैं।

उद्देश के क्रम में शिक्षा का सरल मार्ग अवलम्बन किया जाता है, आगे लक्षण का क्रम उद्देश के क्रम से होता है, और परीक्षा का क्रम लक्षण के क्रम से होता है। कभी २ शिक्षा की सरलता के लिए आगा पीछा भी कर दिया जाता है।

यहां पदार्थों के उद्देशक्रम में सब से पहले द्रव्य इसलिए कहे, कि वे ही मुख्य धर्मी हैं। उन से पीछे गुण, क्योंकि गुण सब द्रव्यों में पाए जाते हैं। उन से पीछे कर्म, क्योंकि कर्म भी द्रव्यों में ही रहते हैं। पीछे उन में समान विशेष प्रतीति के नियामक सामान्य विशेष। पीछे समवाय, अर्थात् धर्म धर्मी का सम्बन्ध, क्योंकि यह सब का धर्म है।

'पदार्थ' यह यौगिक नाम है, 'पदस्य अर्थः, पदार्थः,' पद का अर्थ पदार्थ, अर्थात् जिस का कोई नाम है, सो 'अभिधेयत्व' किसी पद का वाच्य होना यही पदार्थ का सामान्य लक्षण हुआ।

सङ्गति-उद्देश क्रम के अनुसार क्रमशः द्रव्य गुण कर्म का विभाग * कहते हैं—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। ५।

---

* विभाग भी उद्देश ही है। क्योंकि विभाग में भी नाम ही गिनाए जाते हैं। पहले पदार्थों का उद्देश था, अब ये पदार्थों में आए द्रव्य का विशेष उद्देश है। इसी प्रकार आगे गुण कर्म का।

अर्थ-पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये (९) द्रव्य हैं ।

क्रमशः सूक्ष्म होने से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश क्रमशः कहे। पीछे लोकप्रसिद्ध काल और दिशा। अनन्तर चेतन आत्मा, और आत्मा के साथ नियत रहने से पीछे मन।

प्रश्न–तम (अन्धकार) भी तो एक द्रव्य है, क्योंकि गुण क्रिया-वाला द्रव्य होता है। और तम काला होता है, यह तम में गुण है, और चलता है, यह उस में क्रिया है। और जो ९ द्रव्य ऊपर कहे हैं, उन के अन्दर यह आ सकता नहीं, क्योंकि वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, तो रूपवाले नहीं, और तम रूपवाला होता है, इस लिए इन के अन्तर्गत नहीं, रहे पृथिवी, जल, तेज, उन को हम आंखों से तब देखते हैं। जब वे प्रकाश से युक्त हों। और तम उलटा तब दीखता है, जब प्रकाश न हो, इसलिए यह पृथिवी जल तेज के अन्तर्गत भी नहीं, अतएव यह एक अलग ही दसवां द्रव्य सिद्ध होता है।

उत्तर–प्रकाश का अभाव ही तम है, और कुछ नहीं। उस में क्रिया की प्रतीति भ्रान्ति है। जब प्रदीप लेकर चलते हैं, तो ज्यों २ प्रकाश आगे २ बढ़ता जाता और पीछे २ से हटता आता है, त्यों २ तम आगे २ भागता जाता और पीछे २ दौड़ता आता प्रतीत होता है। वस्तुतः वह दौड़ प्रकाश की ही है, प्रकाश के होते तम मिट जाता है, और प्रकाश के हटते तम होता आता है। इस प्रकार क्रिया उस में भूल से प्रतीत होती है। रूप की प्रतीति भी भ्रान्ति है, रूप को नेत्र तभी देखते हैं,

जब बाह्य प्रकाश सहायक हो। सो न दीखना ही तम रूप है, न कि कोई वास्तविक रूप।

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि-पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। ६।

(रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये (१७) गुण हैं (और इन से अतिरिक्त गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, शब्द ये सात भी गुण हैं, इन का वर्णन आगे परीक्षा में है, (इस प्रकार सारे गुण २४ हैं))

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ये चारों इकट्ठे कहे, क्योंकि ये विशेष गुण हैं, इन से द्रव्यों की पहचान होती है। और ये पहले चार ही द्रव्यों में रहते हैं, और किसी में नहीं पाये जाते।

संख्या (गिनती) परिमाण (छुटाई बड़ाई लंबाई चुड़ाई Quantity) पृथक्त्व (अलगपना Severalty) संयोग, और विभाग। ये द्रव्यमात्र के गुण हैं।

परत्व और अपरत्व, (दूरी और निकटता) देश की अपेक्षा से वा काल की अपेक्षा से तो यह परे है, और यह वरे है इस प्रकार होती है, और यह उन में होती है, जो एकदेशी द्रव्य हों, विभु द्रव्यों में वरे परे नहीं कहा जाता। और काल की अपेक्षा से नया पुराना वा छोटा बड़ा यह प्रतीति होती है, और यह उन में होती है, जो उत्पत्ति वाले हों।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न ये आत्मा के गुण हैं। गुरुत्व (भार) भारी वस्तुओं का। द्रवत्व (वहने का गुण) वहती हुई वस्तुओं का। संस्कार-तीन प्रकार का है-भावना-स्मृति कराने वाला संस्कार, आत्मा का। वेग, चलने वाले द्रव्यों का। और स्थिति स्थापक (पहली अवस्था में लाने वाला) पृथिवी आदि का। धर्म अधर्म आत्मा के और शब्द आकाश का गुण है।

उत्क्षेपण मवक्षेपण माकुञ्चनं प्रसारणं गमनं मिति कर्माणि । ७ ।

उत्क्षेपण (ऊपर फैंकना) अवक्षेपण (नीचे फैकना) आकुञ्चन (सकोड़ना) प्रसारण (फैलाना) और गमन ये (५) कर्म हैं।

व्या-कर्म, क्रिया (Action) को कहते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। कर्म द्रव्य में ही रहता है, गुण में नहीं। जब घोड़ा दौड़ता है, तो वह कर्म घोड़े में हुआ है, उस के रंग में कोई कर्म नहीं हुआ। यदि रंग में भी अलग कर्म होता, तो रंग घोड़े से अलग भी हो जाता, वा वेग की दौड़ में कभी न कभी कुछ आगे पीछे होता। ये कर्म पांच ही प्रकार के हैं, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

प्रश्न-कर्म तो और भी वहुत हैं, जैसे हिलना, डोलना, घूमना, फिरना, वहना, जलना, उड़ना, इत्यादि।

उत्तर-ये सब कर्म गतिविशेष है, इस लिए गमन के ही अन्तर्गत हैं, अलग नहीं।

प्रश्न-इस प्रकार तो उत्क्षेपण आदि भी गतिविशेष होने से गमन के अन्तर्गत हो सकते हैं, फिर ये भी अलग क्यों कहे।

उत्तर-हो तो सकते हैं, किन्तु लोक में गमन का प्रयोग वहीं होता है, जहां वस्तु में अपनी गति प्रतीत हो। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन और प्रसारण बलात् कराए गए प्रतीत होते हैं, इसलिए ये गमन से भिन्न प्रकार के कर्म प्रतीत होते हैं। इसी दृष्टि से ये अलग कहे हैं, अतएव बलात् चालन की दृष्टि को छोड़ कर जब केवल उन के चलन पर दृष्टि होगी, तो उन का चलन गतिरूप में प्रतीत होता हुआ गमन के ही अन्तर्गत होगा।

संगति-द्रव्य गुण कर्म का विभाग दिखला कर, उन के सांझे धर्म दिखलाते हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः। ८।

सत्, अनित्य, द्रव्य वाला, कार्य, कारण, सामान्यविशेष वाला, यह (बात) द्रव्य गुण और कर्म में एक जैसी है।

व्या०-द्रव्य गुण कर्म तीनों सत् हैं, अपनी २ सत्ता, कार्य करने का सामर्थ्य, रखते हैं। अनित्य भी हैं, अर्थात् नाशवान् हैं, जो उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य एक दिन नाश होगा, लोक, लोकान्तर और उन में उत्पन्न द्रव्यों (वस्तुओं) का नाश होता रहता है, जब द्रव्य नाश होते हैं, तो उन के गुण भी नाश होते हैं, और कर्म तो हरएक द्रव्य के स्थिति काल में ही कई उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं।

प्रश्न-परमाणु आदि तो नित्य हैं, नाशवान् नहीं, और जल आदि के परमाणुओं में जो रूप रस आदि गुण हैं, वे भी नाशवान् नहीं, नित्य हैं, तब नाशवान् यह सारे द्रव्यों और गुणों का सांझा धर्म कैसे हुआ।

उत्तर-यहां यह अभिप्राय नहीं, कि हरएक द्रव्य और हर एक गुण का यह धर्म है। अभिप्राय यह है, कि यह धर्म (नाश) द्रव्यों में भी पाया जाता है, गुणों मे भी पाया जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म में से किसी एक का विशेष धर्म नहीं, किन्तु तीनों का अविशेष धर्म है। साधर्म्य निरूपण में सर्वत्र यही अभिप्राय है। यह दूसरी बात है, कि वह सब में पाया जाए, वा कुछ में पाया जाए। जैसे पूर्वोक्त सत्ता धर्म तो सारे द्रव्यों सारे गुणों और सारे ही कर्मों में पाया जाता है। पर यह नाश (धर्म) उन्हीं द्रव्यों और उन्हीं गुणों में पाया जाता है, जो उत्पत्ति वाले हैं, पर पाया तो जाता है, द्रव्यों में भी और गुणों में भी, हां कर्म सब के सब उत्पत्ति वाले ही होते हैं, इस लिए कर्मों में-सभी में-पाया जाता है। इसी तरह आगे भी जानना।

द्रव्यवत्=द्रव्यं विद्यते आधारतया यस्य, तत् द्रव्यवत्।

द्रव्य वाला, अर्थात् द्रव्य के सहारे पर स्थित। परमाणु आदि नित्य द्रव्यों से अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अपने कारण द्रव्य के सहारे पर रहते हैं, गुण सारे और कर्म भी सारे द्रव्य के सहारें रहते हैं।

कार्य, उत्पत्ति वाले। अनित्य द्रव्य सभी उत्पत्ति वाले हैं, उन के गुण भी उत्पत्ति वाले हैं, और कर्म सभी उत्पत्ति वाले हैं।

कारण-तीनों ही कारण भी हैं, इन में से द्रव्य तो द्रव्य गुण कर्म तीनों का कारण है, अपने गुणों के भी और अपने कर्मों के भी। गुण भी तीनों के कारण होते हैं। तन्तु संयोग वस्त्र का कारण है, तन्तुरूप वस्त्र के रूप का कारण, और आघात (धक्का लगाने वाला संयोग) कर्म का कारण होता है।

सामान्यविशेष वाले-द्रव्यत्व,जो सामान्यविशेष है, वह द्रव्यों में है, गुणत्व जो सामान्यविशेष है,वह गुणों में है.और कर्मत्व जो सामान्य-विशेष है,वह कर्मों में है,इस प्रकार तीनों सामान्यविशेष वाले हैं।

संगति-पहले दो का साधर्म्य बतलाते हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् । ९ ।

सजातीयों का आरम्भक होना द्रव्यों और गुणों का साधर्म्य है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तर मारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् । १० ।

(अर्थात) द्रव्य द्रव्यान्तर के, आरम्भक होते हैं, और गुण गुणान्तर के (जैसे तन्तु वस्त्र के और तन्तुओं का रूप वस्त्र के रूप का आरम्भक होता है)।

संगति-उक्त धर्म में कर्म का द्रव्य गुण से वैधर्म्य बतलाते हैं-

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते । ११ ।

कर्म कर्म का कार्य नहीं होता।

व्या०-कर्म का आरम्भक कर्म नहीं होता, किन्तु संयोग होता है।

प्रश्न–जहां शहतीर के साथ थोड़ी दूरी पर कुछ गेंद लट-का दिये जाएं, उन में से जब एक गेंद को परे खींच कर छोड़ें, तब वह दूसरे गेंद को टकरा कर हिला देगा, इसी प्रकार अगला २ अगले २ को हिला देगा, वहां तो अगले २ गेंद का कर्म परले २ गेंद के कर्म का कार्य है ।

उत्तर–नहीं, वहां भी पहले गेंद का कर्म कारण नहीं, किन्तु आघात (संयोग विशेष) ही कारण है । पहले गेंद के कर्म का कार्य तो दूसरे गेंद को आघात पहुंचाना है, अर्थात् दूसरे गेंद से संयोगविशेष है, और बस । अब उस संयोग से दूसरे गेंद में कर्म उत्पन्न हुआ, इस लिए वहां भी कर्म कर्म का कार्य नहीं, संयोग का ही कार्य है ।

संगति–द्रव्य गुण कर्म का आपस में वैधर्म्य बतलाते है–

न द्रव्यं कार्यं कारणं च बधति । १३ ।

नहीं द्रव्य कार्य को और कारण को नाश करता है ।

व्या०—तन्तु कारण हैं, वस्त्र कार्य है । इन दोनों में से कोई भी दूसरे का विरोधी नहीं, न तो तन्तु वस्त्र के नाशक है, न वस्त्र तन्तुओं का नाशक है, किन्तु वस्त्र का जब नाश होगा, या तो तन्तुओं के टूटने से होगा, या तन्तुओं का संयोग न रहने से होगा । इसी प्रकार द्रव्य का सर्वत्र या तो आश्रयनाश से या आरम्भक संयोग के नाश से ही नाश होगा, अपने कारण द्रव्य वा कार्य द्रव्य से कभी नहीं, सारांश यह कि कार्य कारणभाव को प्राप्त हुए द्रव्यों में वध्यघातकभाव नहीं है ।

उभयथा गुणाः ।१३।

अर्थ—दोनों प्रकार से गुण (हैं)।

व्या०—गुण ऐसे भी हैं, जो अपने कारण के नाशक होते हैं, जैसे शब्द पहले संयोग वा विभाग से उत्पन्न होता है, फिर आगे शब्द से शब्द उत्पन्न होता चला जाता है, और हर एक अगला २ शब्द पहले २ शब्द (अपने कारण शब्द) का नाशक होता है। और जो अन्त्य शब्द है, उस का नाशक उपान्त्य (अन्तले से पहला) शब्द है। अर्थात् शब्दोत्पत्ति की परम्परा में जो अन्तिम शब्द है, जिससे आगे शब्द बन्द हो जाता है, उसका नाशक और तो शब्द कोई होना नहीं, इसलिए उससे पहला शब्द ही उसका नाशक है*।

कार्यविरोधि कर्म ।१४।

अर्थ—'कार्य विरोधि यस्य तत् कार्य विरोधि' कार्य जिसका नाशक है, ऐसा कर्म है।

व्या०—स्थिर वस्तु जहां है, कर्म होते ही उससे आगे चली जाती है, पहले स्थान से उसका विभाग और अगले से संयोग हो जाता है. इसी को उत्तरदेशसंयोग कहते हैं, इसके होते ही कर्म नाश हो जाता है। इस प्रकार हरएक कर्म का कार्य उत्तर देश संयोग

---

* कारण गुण अपने कार्य गुण का नाशक होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्रकार ने तो कहीं नहीं किया। व्याख्याकारों ने 'उपान्त्य शब्द अन्त्य का नाशक होता है' यही एक उदाहरण माना है। तदनुसार लिख दिया है।

होता है, और उत्तरदेशसंयोग ही कर्म का नाशक है ।

संगति—लक्षण भी असाधारण धर्म ही होता है, इसलिए तीनों के वैधर्म्य के प्रसंग में क्रमशः तीनों के लक्षण बतलाते हैं—

क्रियागुणवत् समवायिकारण मिति द्रव्य लक्षणम् ।१५।

क्रिया और गुण वाला, और समवायिकारण, यह द्रव्य का लक्षण है ।

व्या०—क्रिया और गुण द्रव्यों में ही होते हैं, गुण और कर्म में नहीं, यद्यपि क्रिया काल आदि में नहीं होती, तथापि क्रिया होती द्रव्यों मे ही है, यह अभिप्राय है । और गुण तो सभी द्रव्यों मे होते हैं । समवायिकारण भी सभी द्रव्य होते हैं । समवायिकारण उसको कहते हैं, जिस में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहे । उत्पत्ति वाले गुण कर्म तो जिस द्रव्य के गुण कर्म हैं, उस में समवाय से रहते हैं, वही उन का समवायिकारण होता है, और कार्यद्रव्य अपने कारण द्रव्यो में समवाय से रहता है, वही उसका समवायिकारण होते हैं ।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग विभाग योर्नकार णमनपेक्ष इति गुण लक्षणम् । १६ ।

अर्थ—(द्रव्याश्रयी) सदा द्रव्य के आश्रय रहने वाला, (अ-गुणवान्) गुण वाला न हो, (संयोग विभागयोः) संयोग और विभाग मे (नकारण) कारण न हो । (अनपेक्षः) अनपेक्ष हो कर (इति गुणलक्षणम्) यह गुण का लक्षण है ।

व्या०—गुण का स्वभाव यह है, कि वह कभी द्रव्य से स्वतन्त्र हो कर नहीं रहता, सदा द्रव्य के आश्रय ही रहता है, और दूसरा—अपने अन्दर कोई और गुण नहीं रखता, यह तो इस की द्रव्य से विलक्षणता है। कर्म से विलक्षणता यह है, कि कर्म संयोग विभाग में अनपेक्ष कारण होता है, जैसा कि अगले सूत्र में दिखलाएंगे और गुण संयोग विभाग में अनपेक्ष कारण नहीं होता।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागयो*रनपेक्षकारणमिति कर्म लक्षणम् ॥१७॥

एक द्रव्य (में होने) वाला, गुण से शून्य, संयोग और विभाग में अनपेक्ष कारण हो, यह कर्म का लक्षण है।

व्या०—अवयवी द्रव्य अपने सारे अवयवों के आश्रय रहता है, संयोगादि गुण भी अनेक द्रव्यों के आश्रय रहते हैं, पर कर्म हरएक एक ही द्रव्य के आश्रय रहता है। बग्घी जब दौड़ी जाती हो, तो बग्घी में अपना कर्म अलग होता है, और सवारों में

---

* शंकर मिश्र ने 'संयोगविभागेषु' पाठ पढ़ा है। पर यह बहुवचन निरर्थक है। मुद्रित पुस्तकों में इसी के अनुसारी पाठ रक्खा है, किन्तु पाठान्तर 'संयोगविभागयोः' दिया है। न्याय मुक्तावली और सिद्धान्तमुक्तावली में यह सूत्र उद्धृत किया गया है, वहां 'संयोगविभागयोः' ही पाठ पढ़ा है। इसलिए वही पाठ शुद्ध है। इसी के अनुसार पूर्वसूत्र में भी 'संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्षः' इस मुद्रित पाठ के स्थान 'संयोगविभागयोरकारणमनपेक्षः' पाठ ही शुद्ध है, जो हस्तलिखित पुस्तकों में मिला है।

अलग अपना होता है। अतएव यदि दौड़ती हुई बग्घी एकदम अड़ कर रुक जाए, तो सवार आगे जापड़ते हैं। यह द्रव्य गुण से कर्म में विलक्षणता है।

'गुण शून्य' यह द्रव्य से विलक्षणता है।

'संयोग और विभाग में अनपेक्ष कारण' वस्तु को पहले स्थान से अगले स्थान में ले जाता है अर्थात् पहले स्थान से उसका विभाग और दूसरे से संयोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार कर्म संयोग और विभाग का कारण है।

प्रश्न—जब हाथ का संयोग पुस्तक के साथ हुआ, तो उस संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग होगया अर्थात् हस्त-पुस्तक का संयोग शरीरपुस्तक के संयोग का कारण हुआ। इसी प्रकार हस्तपुस्तक के विभाग से शरीरपुस्तक का विभाग हुआ अर्थात् हस्तपुस्तकविभाग शरीरपुस्तक के विभाग का कारण हुआ। इस प्रकार संयोग और विभाग का कारण निरा कर्म ही नहीं, संयोग और विभाग भी हैं, तब यह कर्म का लक्षण कैसे हुआ ?

उत्तर—हाथ में कर्म होकर हाथ और पुस्तक का जो संयोग हुआ है, यह तो कर्म से विना किसी की अपेक्षा के हुआ, पर आगे हाथ और पुस्तक के संयोग से जो शरीर पुस्तक का संयोग हुआ है, वह अगांगिभाव की अपेक्षा से हुआ है। यदि हाथ शरीर का अंग न होता, तो विना कर्म के उनका संयोग न होता। इस प्रकार कर्म तो स्वजन्य संयोग का अनपेक्ष कारण है, और संयोग स्वजन्य संयोग का सापेक्ष कारण है। इसी प्रकार हाथ के कर्म

से हस्तपुस्तक का जो विभाग हुआ, उस में कर्म अनपेक्ष कारण है और आगे हस्तपुस्तक के विभाग से जो शरीरपुस्तक का विभाग हुआ, उस में हाथ का विभाग अंगांगीभाव की अपेक्षा से शरीर के विभाग का कारण हुआ है। यह भेद है, इस लिए लक्षण में अनपेक्ष कारण कहा है।

संगति—कारणता में साधर्म्यवैधर्म्य दिखलाते हैं॥

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

द्रव्य, गुण और कर्म का द्रव्य सांझा कारण है।

व्या०—तन्तु द्रव्य हैं, वस्त्र का कारण हैं, वस्त्र भी द्रव्य है। आगे वस्त्र में जो रूप और कर्म हैं, उनका कारण वस्त्र है। इसी प्रकार सर्वत्र द्रव्यगुण कर्म का समवायि कारण द्रव्य ही होता है।

तथागुणः ॥१९॥

वैसे गुण (द्रव्यगुण कर्म के कारण होते हैं)

व्या०—तन्तुओं का संयोग (गुण) वस्त्र का, तन्तुओं का रूप वस्त्र के रूप का, और संयोग विभाग कर्म के कारण (देखो सू० ३०) होते हैं।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

संयोग विभाग वेगका कर्म सांझा (कारण है)।

व्या०—तोप के गोले में जो कर्म है, वह पहले स्थान से विभाग और अगले से संयोग उत्पन्न करता है, और गोले में वेग उत्पन्न करता है।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

नहीं द्रव्यों का कर्म (कारण)

व्यतिरेकात् ॥२२॥

हट जाने से

व्या०—हरएक द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व कर्म होता अवश्य है, पर कर्म आरम्भक संयोग को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाता है, और द्रव्य आरम्भक संयोग के पीछे उत्पन्न होता है सो कर्म जब अपना कार्य्य (संयोग) करके हट जाता है, तब द्रव्य उत्पन्न होता है, इसलिए कर्म द्रव्य का कारण नहीं, किन्तु संयोग है, हां संयोग का कारण कर्म है।

संगति—कारणता में साधर्म्य दिखला कर कार्यता में दिखलाते हैं॥

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

द्रव्यों का द्रव्य सांझा कार्य होता है।

व्या—बहुत सी तन्तुओं का सांझा कार्य एक वस्त्र होता है। इस प्रकार अवयव बहुत से वा न्यून से न्यून दो ही मिलकर नया कार्य उत्पन्न करते हैं। अकेले अवयव से नया कार्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्न—एक ही लम्बी तन्तु को बहुत से फेर देकर तागा बना सकते हैं?

उत्तर—यहां भी उस तन्तु के अवयव बहुत से हैं, और तागा उसके अवयवों से बना है, न कि तन्तु से, अतएव अब वह तन्तु नहीं रही।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

गुणों से वैधर्म्य होने से कर्मों का कर्म (कार्य) नहीं।

व्या—गुण तो सजाति के आरम्भक होते हैं, इसलिए तन्तु के रूप का कार्य वस्त्र का रूप होता है, पर कर्म सजातीयारम्भक होता नहीं (देखो सू० ११) इस लिए तन्तु के कर्म से वस्त्र में कर्म उत्पन्न नहीं होता ।

सं०—द्रव्यवत् कई गुण भी अनेक द्रव्यों का कार्य हैं:—

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्व संयोग विभागाश्च ॥२५॥

व्या०—दो आदि संख्या पृथक्त्व (अलगपन,) संयोग और विभाग भी (अनेक द्रव्यों का सांझा कार्य हैं) ।

व्या—द्वित्व संख्या अकेले में नहीं होती, न ही अकेले में पृथक्त्व संयोग और विभाग रहते हैं ।

सं०—पर कर्म ऐसा कोई नहीं होता, यह बतलाते हैं—

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ।२६।

असमवाय से सांझा कार्य कर्म नहीं होता है ।

व्या०—पर कर्म एक अनेकों में समवेत नहीं होता, हर एक में अपना अलग २ कर्म होता है (देखो पू० सू० १७) इसलिए कर्म अनेक द्रव्यों का सांझा कार्य नहीं होता है ।

सं०—फिर अनेकों का एक कार्य कहते हैं—

संयोगानां द्रव्यम् ।२७।

संयोगों का द्रव्य (सांझा कार्य होता है) ।

व्या०—बहुत से तन्तुसंयोगों का वस्त्ररूप एक द्रव्य कार्य होता है ।

रूपाणां रूपम् ।२८।

रूपों का रूप (सांझा कार्य है)।

व्या०—वस्त्र का रूप सारे तन्तुरूपों का एक सांझा कार्य होता है। इसी प्रकार रस गन्ध आदि।

गुरुत्व प्रयत्न संयोगाना मुत्क्षेपणम् ।२९।

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग का उत्क्षेपण (सांझा कार्य है)।

व्या०—ऊपर फैंकने में ये कारण हुआ करते हैं—फैंकी जाने वाली वस्तु का गुरुत्व, फैंकने वाले का प्रयत्न, और हाथ का संयोग। सो उत्क्षेपण इन तीनों का सांझा कार्य है। इसी प्रकार अवक्षेपणादि।

संयोग विभागाश्च कर्मणाम् ।३०।

संयोग और विभाग कर्मों के (सांझे कार्य हैं)।

व्या०—एक ही कर्म पूर्व देश से विभाग और उत्तर देश से संयोग उत्पन्न करता है।

कारण सामान्ये द्रव्य कर्मणां कर्माकारण मुक्तम् ।३१।

कारण सामान्य में द्रव्य और कर्मों का कर्म अकारण कहा है।

व्या०—पूर्व कारण सामान्यप्रकरण (सू० १८) में कर्म को द्रव्य और कर्म का अकारण कह चुके हैं (देखो सू० २१, २४) इसलिए कर्म केवल गुणों का ही कारण होता है॥

प्रथम अध्याय, द्वितीय आह्निक।

सं०—पहले आन्हिक में कार्यकारणभाव से द्रव्य गुण कर्म का साधर्म्य वैधर्म्य दिखलाया है, अब उस कार्यकारणभाव के नियम दिखलाते हैं—

कारणाभावात् कार्याभावः ।१।

कारण के अभाव से कार्य का अभाव (होता है)।

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ।२।

पर कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता।

व्या०—जो वृष्टि आदि का कदाचित होना है, यह बिना कारण के नहीं घट सकता, अन्यथा सदा ही होती रहती, अथवा सदैव न होती, न कि कदाचित होती। इससे सिद्ध है, कि कादाचित्क वस्तुएं कार्य होती हैं, और कार्य किसी कारण से ही होता है, इसलिए इस विश्व में कार्यकारणभाव है। उस के ये नियम हैं—

१—कार्य विना कारण के नहीं होता। उदाहरण-मेघ न हो, तो वृष्टि कभी नहीं होगी, बीज न हो, तो अंकुर कभी नहीं होगा।

२—कारण विना कार्य के भी होता है—उदाहरण—मेघ बिन बरसे भी होता है, बीज बिन अंकुर भी होता है।

३—हरएक कार्य अपनी कारणसामग्री से होता है, अकेले कारण से नहीं। उदाहरण—वस्त्र; तन्तु, ताने बाने के रूप में तन्तुओं के संयोग, जुलाहे और तुरी आदि से होता है। इन में से अकेली तन्तुएं वा अकेला जुलाहा वा अकेली तुरी वस्त्र को उत्पन्न नहीं कर सकते। सारे मिल कर ही करते हैं, अतएव सब कारण हैं—समस्त कारणों को कारणसामग्री कहते हैं।

४—कारणसामग्री के मिलने पर कार्य अवश्यमेव होता है। उदाहरण—तन्तुएं, जुलाहा, तुरी आदि और तन्तुओं का ताने बाने के रूप में मेल, इस कारणसामग्री के जुटने पर हो नहीं सकता, कि वस्त्र उत्पन्न न हो।

कारण तीन प्रकार का है—समवायि, असमवायि; निमित्त इनका भेद जानने के लिए वस्त्र की उत्पत्ति की ओर दृष्टि डालो, कि तन्तु, जुलाहे, कंघी और नालियों ने वस्त्र के बनाने में क्या २ काम किया है।

तन्तुओं से वस्त्र बना है, तन्तुएं समवायिकारण हैं। तन्तुओं से बना तब है, जब ये ओत प्रोत हो गई हैं, इसलिए यह ओत प्रोत रूप में संयोगविशेष वस्त्र का असमवायिकारण है। जुलाहे, कंघी और नालियों ने यह संयोग कराया है, इसलिए वे निमित्त कारण हैं। इस प्रकार द्रव्य की उत्पत्ति में सर्वत्र अवयव समवायिकारण, अवयवसंयोग असमवायिकारण, और संयोग कराने वाले जुलाहे कंघी आदि निमित्त कारण होते हैं। इत्यादि।

संगति—प्रसंगागत कार्यकारणभाव का निरूपण कर क्रम-प्राप्त सामान्य विशेष का निरूपण करते हैं—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।३।

सामान्य और विशेष ये (दोनों) बुद्धि की अपेक्षा से हैं।

व्या०—द्रव्य गुण कर्म ये तीन पदार्थ इस विश्व की सारी घटनाओं के कारण हैं, अतएव ये ही तीन अर्थ कहलाते हैं। अगले तीन सामान्य विशेष और समवाय पदार्थ ही कहलाते हैं अर्थ नहीं। हमारी प्रतीति और व्यवहार उनका अस्तित्व तो सिद्ध करता है, पर विश्व की रचना में वह अपनी कोई सत्ता नहीं दिखलाते। उनमें से पहले सामान्य और विशेष का निरूपण करते हैं।

इस विश्व की सारी वस्तुएं आपस में भिन्न २ हैं, पर इस भेद के होते हुए भी हम वस्तुओं में ऐसी समानता भी पाते हैं,

जिससे वे सब आपस में तो एक ही प्रकार की प्रतीत होती हैं, और दूसरी वस्तुओं से भिन्न प्रकार की। जैसे सारी गौओं में कोई ऐसी समानता है, जिससे गौएं सब एक प्रकार की प्रतीत होती हैं, और घोड़ा वृक्ष आदि से भिन्न प्रकार की प्रतीत होती हैं। इस समानता को **सामान्य** वा **जाति** कहते हैं। इसी प्रकार घोड़ा, बकरी, भैंस आदि की जातियां हैं। ऐसे सामान्य धर्म (जाति) के जितलाने के लिए शब्द के आगे संस्कृत में 'त्व' और भाषा में 'पन' लगाया जाता है। जैसे 'गोत्व' वा गोपन। अर्थात् सारी गौओं का वह समान धर्म, जिससे उन सब में 'गौ' यह एकाकार प्रतीति और व्यवहार होते हैं।

अब गोत्व सारी गौओं का तो समानधर्म भी है, और विशेषधर्म भी है। क्योंकि यह धर्म जो सारी गौओं में 'गौ गौ' ऐसी एकाकार प्रतीति कराता है, यही धर्म घोड़े भेड़ बकरी मनुष्य पक्षी आदि से गौओं का भेद भी जितलता है, इसलिए यह विशेषधर्म भी है। ये सामान्य विशेष बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। एक दृष्टि से यह सामान्य धर्म है, दूसरी दृष्टि से वही धर्म (गोत्व) विशेष धर्म है। इस प्रकार सामान्य विशेष बुद्धि की अपेक्षा से हैं।

एक और प्रकार से भी सामान्य विशेष बुद्धि की अपेक्षा से हैं। मनुष्य की बुद्धि समानता और विशेषता के जांचने में इतनी दूरतक पहुंचती है। कि जब विशेषता जांचने लगती है, तो हरएक व्यक्ति की दूसरी व्यक्ति से विशेषता जान लेती है। गंवार भी अपनी गौ को दूसरी गौओं में से बड़ी आसानी के साथ निखेर

लेता है। और जब समानता की ओर झुकता है, तो पहले सारी गो व्यक्तियों में समानता देखकर सबका एक नाम 'गौ' रखता है। फिर गौओं से ऊपर भेड़ बकरी भैंस आदि में भी गौओं के साथ कोई समानता देखकर सबका एक नाम 'पशु' रखता है। फिर इन पशुओं की भी किसी अंश में मनुष्य पक्षियों के साथ समानता देखकर सब का एक नाम प्राणी रखता है। फिर प्राणियों की अप्राणियों के साथ भी किसी अंश में समानता देखकर सब का एक नाम द्रव्य रखता है। फिर द्रव्य की भी गुण कर्म के साथ किसी अंश में समानता देखकर एक नाम भाव रखता है। इस प्रकार समानता में भी उस सिरे तक पहुंच जाता है, जिस में सब वस्तुएं आजाती हैं। जैसे सब वस्तुओं को सत् कहते हैं, इसलिए सत्ता सब वस्तुओं में सामान्य है॥ सामान्य वह धर्म है; जो 'गौ गौ' ऐसी अनुवृत्त (एकाकार) बुद्धि का हेतु है; और विशेष वह धर्म है, जो व्यावृत्त बुद्धि का हेतु है। जैसे अपनी गौ की अलग व्यक्ति। सत्ता तो सब में प्रतीत होती है, इसलिए सत्ता सामान्य ही है। और गोत्व सारी गौओं में तो प्रतीत होता है, पर सारी वस्तुओं में प्रतीत नहीं होता, इसलिए गोत्व सामान्य भी है, और विशेष भी है। इस तरह सत्ता से भिन्न सारी जातियां सामान्य विशेष हैं। और अन्तिम व्यक्तियां निरी विशेष हैं। इसी का अगले सूत्रों में उपपादन करते हैं:—

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

सत्ता अनुवृत्ति का ही हेतु होने से सामान्य ही है।

व्या०—सब वस्तुओं में प्रतीति की 'सत् सत्' ऐसी अनुवृत्ति से सत्ता निरा सामान्य ही है, विशेष नहीं। और—

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वंच सामान्यानि विशेषाश्च ।५।

द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्य भी हैं, विशेष भी हैं।

व्या०—द्रव्यत्व द्रव्यों में अनुवृत्त बुद्धि का हेतु होने से सामान्य है और द्रव्यभिन्नों से व्यावृत्त बुद्धि का हेतु होने से विशेष भी है; तथा द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जातियों की अपेक्षा से सामान्य है, और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। इसी प्रकार गुणत्व कर्मत्व भी सामान्य भी हैं, और विशेष भी हैं, इसी प्रकार आगे पृथिवीत्व घटत्व आदि सारे धर्म सामान्य भी हैं, और विशेष भी हैं।

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

अन्त में होने वाले विशेषों से अतिरिक्त (सब सामान्य विशेष हैं)।

व्या०—अलग २ व्यक्तियों में जो विशेष धर्म हैं, वह सामान्य नहीं, विशेष ही हैं।

इस प्रकार इस सारे विश्व के एकैक अर्थ में भेद भी है, और सामानता भी है।

सूत्रकार के मत में सामान्य विशेष और समवाय यद्यपि पदार्थ हैं, हमारा समझने समझाने का व्यवहार इनके बिना नहीं चल सकता, पर ये अर्थ नहीं। इस विश्व में जो उत्पत्ति विनाश और परिवर्तन होरहे हैं, उनमें ये कोई भाग नहीं ले रहे। इस अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर सूत्रों का सीधा आशय हम ने दिया है। किन्तु व्याख्याकारों ने विशेष एक स्वतन्त्र पदार्थ

सिद्ध करने के लिए इस प्रकार व्याख्या की है, कि सामान्य विशेष जो जातियां हैं, ये जातियां उन विशेष पदार्थों से अलग हैं, जो विशेष पदार्थ अन्त में अर्थात् नित्य द्रव्यों में रहते हैं। आशय यह है, कि बहुत सी व्यक्तियों में जो एकाकार बुद्धि होती है, उसका हेतु उन सब व्यक्तियों में कोई एक पदार्थ अवश्य है, वही जाति है। अब जो भेद बुद्धि होती है उसका हेतु भी कोई अवश्य होना चाहिये। गौ का घोड़े से भेद कराने वाली तो गोत्व जाति बन सकती है। और एक गौ का दूसरी गौ से भेद कराने वाली उसकी विलक्षण आकृति बन जाती है। और जहां जाति और आकृति दोनों नहीं, जैसे परमाणु, उनमें भेद कराने वाले उनके गुण हो सकते हैं। पर जहां गुण भी भेदक न हों। जैसे पृथिवी के दो परमाणु, उनमें भेद कराने वाला कौन है? और भेद उनमें भी प्रतीत होता है, इसलिए वहां भी भेद बुद्धि का हेतु अवश्य कोई पदार्थ है, वह असली विशेष है। वह नित्य द्रव्यों में रहता है। अब यदि वह सब में एक हो, तो फिर भी भेद न करा सके, इसलिए वह एक २ द्रव्य में अलग २ रहता है, और परमाणु अनन्त हैं, इसलिए वे विशेष भी अनन्त हैं। ऐसे विशेष का प्रतिपादन 'अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः' इस सूत्र में है।

अब यह प्रश्न, कि उन विशेषों का भी तो आपस में भेद है, उस भेद का कराने वाला कौन है, इसका उत्तर यह दिया जाता है, कि वे तो हैं ही विशेष, अतएव वे स्वतः व्यावृत्त (स्वभावतः भिन्न) हैं। इस प्रकार व्याख्याकारों ने एक विशेष पदार्थ की स्थापना की है। फिर नवीनों ने इस पर यह आक्षेप

करके खण्डन कर दिया है, कि यदि विशेष बिना दूसरे विशेषों के स्वतः व्यावृत्त माने जा सकते हैं, तो नित्य द्रव्यों को ही स्वतः व्यावृत्त मान लेने में क्या बाधा है, इसलिए विशेष कोई अलग पदार्थ नहीं है।

संगति—पूर्वोक्त सत्ता आदि का उपपादन करते हैं—

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सासत्ता ॥७॥

'सत्' यह जिससे द्रव्यगुणकर्म में होते हैं, वह सत्ता है।

व्या०—द्रव्यगुणकर्म में 'सत्, सत्' अर्थात् द्रव्यसत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है, ऐसी प्रतीति और व्यवहार जिससे होते हैं, वह धर्म इन में सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्यो ऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

द्रव्यगुण कर्म से अलग पदार्थ है सत्ता (यदि इन में से कोई एक पदार्थ होती, तो सब में सत् सत् प्रतीति न होती)।

गुणकर्मसु च भावात् न कर्म न गुणः ॥९॥

तथा गुणों और कर्मों में होने से (सत्ता) न कर्म है, न गुण है (क्योंकि गुणों और कर्मों में गुण कर्म नहीं रहते, वे द्रव्य के आश्रय ही रहते हैं, गुणों और कर्मों में पाईजाने से द्रव्य तो सुतरां ही नहीं, द्रव्य तो गुण कर्म का आधार होता है, आधेय नहीं)

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१०॥

सामान्य विशेष के अभाव से भी।

व्या०—यदि सत्ता द्रव्यगुण कर्म से भिन्न न होती, तो

जैसे द्रव्य गुण कर्म की कई जातियां (सामान्य विशेष) हैं, वैसे सत्ता की भी जातियां प्रतीत होतीं, पर सत्ता सब की सांझी एक जाति प्रतीत होती है, इसलिए सत्ता द्रव्य गुण कर्म से भिन्न पदार्थ है। इसी प्रकार—

अनेक द्रव्यवत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

अनेक द्रव्यों वाला होने से द्रव्यत्व कहागया।

व्या०—सारे द्रव्यों में 'द्रव्य, द्रव्य' ऐसी अनुगत प्रतीति का हेतु होने से द्रव्यत्व भी (सत्तावत्) व्याख्यात जानना चाहिये।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

सामान्य विशेष के अभाव से भी है।

व्या०—यदि द्रव्यत्व द्रव्य रूप ही होता, तो द्रव्य की नाईं उस में भी द्रव्य की अवान्तर जातियां (पृथिवीत्व, जलत्व, आदि) प्रतीत होतीं।

गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥

(सारे) गुणों में होने से गुणत्व (सत्ता की नाईं अलग) कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१४॥

सामान्य विशेष के अभाव से भी।

व्या०—गुणत्व में गुण की अवान्तर जातियों (रूपत्व, रसत्व आदि) के अभाव से गुणत्व गुण से भिन्न पदार्थ है।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

कर्मों में होने से (कर्म से अलग) कर्मत्व कहागया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

सामान्य विशेष के अभाव से भी (कर्मत्व कर्म से अलग है)

संगति—जातियों का व्यक्तियों से भेद साधन करके सत्ता का एकत्व साधन करते हैं—

सदिति लिंगाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चै को भावः ॥१७॥

'सत्' यह चिन्ह (प्रतीति और व्यवहार) तो (सब में) अविशेष है, और विशेष चिन्ह कोई है नहीं इस कारण सत्ता एक है।

व्या०—जब सब वस्तुओं में 'सत्, सत्' ऐसी एकाकार प्रतीति होती है, तो ऐसी प्रतीति कराने वाली सत्ता एक होनी चाहिये।

हां एकाकार प्रतीति होने पर भी यदि कोई भेदक चिन्ह होता, तो एक न मानते, जैसे दीप शिखा के ऊंची छोटी होते रहने से भेद माना जाता है। पर सत्ता का भेदक ऐसा कोई विशेष चिन्ह भी नहीं है, इस लिए सत्ता सारी वस्तुओं में एक ही है।

इसी प्रकार द्रव्यत्व सारे द्रव्यों में, गुणत्व सारे गुणों में और कर्मत्व सारे कर्मों में एक ही है।

इति प्रथमोऽध्यायः।

द्वितीय अध्याय, प्रथम आन्हिक ।

संगति—अब द्रव्यों के लक्षण करना चाहते हुए पहले पृथ्वी का लक्षण करते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

रूपरस गन्ध स्पर्श वाली है पृथिवी ।

व्या०—गुण दो प्रकार के हैं विशेषगुण और सामान्य गुण । विशेष गुण वे हैं, जिनसे वस्तु की पहचान हो सकती है । लक्षणों में ये ही गुण बतलाए जाते हैं । वे ये हैं—

> रूपं गन्धो रसः स्पर्श स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
> बुद्ध्यादि भावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिका गुणाः ॥

रूप रस गन्ध स्पर्श स्नेह सांसिद्धकद्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म भावना और शब्द ये विशेष गुण हैं।

इन से भिन्न सारे गुण सामान्य गुण हैं।

सो पृथिवी में रूप रस गन्ध स्पर्श ये चार विशेष गुण हैं) गन्ध तो है ही निरा पृथिवी में । रूप रस स्पर्श जल तेज वायु के भी गुण हैं, किन्तु पृथिवी के उनसे विलक्षण हैं। रूप इस में सातों प्रकार का है, रस छहों प्रकार का है, स्पर्श कठोर है। किञ्च पृथिवी के ये विशेष गुण पाकज (गर्मी से बदलजाने वाले) हैं दूसरों के पाकज नहीं।

सं०—क्रम के अनुरोध से पृथिवी के अनन्तर जल का लक्षण करते हैं—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

(जल रूप रस स्पर्श वाले हैं तथा द्रव (बहने वाले) और स्निग्ध (स्नेहवाले) हैं।

व्या—जल में गन्ध नहीं। जब कभी गन्ध की प्रतीति होती है, तो वह पार्थिव अंश के मेल से होती है स्वतः नहीं। रूप जल में शुक्ल ही है, और रस मधुर ही है। द्रवत्व और स्नेह ये दो गुण और हैं। द्रवत्व वह गुण है, जिस से जल बहते हैं, और स्नेह वह है, जिस से धूली आदि को मिलाकर संग्रह कर सकते हैं।

संगति—क्रम प्राप्त तेज का लक्षण कहते हैं—

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

(तेज रूप और स्पर्शवाला है।)

व्या०—तेजका रूप भास्वर शुक्ल है और स्पर्श उष्ण है। भास्वर=दूसरों का प्रकाशक।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

(स्पर्शवाला है वायु।)

व्या—वायु में निरा स्पर्श है। रूप, रस, गन्ध नहीं, और स्पर्श वायु का विलक्षण अनुभवसिद्ध है।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

(वे आकाश में नहीं हैं।)

व्या०—आकाश में न रूप है, न रस है, न गन्ध है न स्पर्श है।

सं—रूप रस गन्ध स्पर्श के आधार दिखला कर जलों में कहे द्रवत्व की समानता अन्यत्र दिखलाते हैं—

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्व-मद्भिः सामान्यम् ॥६॥

घी लाख और सिक्थे का अग्नि के संयोग से द्रवत्व जलों के साथ सामान्य है।

व्या०—भेद यह है, कि जलों में सांसिद्धिक द्रवत्व है, और इन में नैमित्तिक है, क्योंकि अग्नि के संयोग से होता है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार—

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णाना मग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

रांगा सीसा लोहा चांदी सोने का अग्नि के संयोग से द्रवत्व जलों के साथ सामान्य है।

व्या०—रांगादि धातों का उपलक्षण है, तांबा कांसा आदि भी अग्नि के संयोग से पिघल जाते हैं। इनका भी द्रवत्व नैमित्तिक है, स्वाभाविक द्रवत्व जलों में ही है।

सं०—'स्पर्शवान् वायुः' सूत्र से वायु का लक्षण कहा, उसमें प्रमाण अनुमान दिखलाने के लिए अनुमान की प्रमाणता दृढ़ करते हैं—

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ॥८॥

सींगों वाला, कुहान वाला, ऊंची सिरे पर बालों वाली पूंछ वाला, और सास्ना वाला यह गोत्व* में दृष्ट चिन्ह है।

व्या०—जिस चिन्ह से किसी वस्तु का अनुमान हो, उस चिन्ह को लिंग कहते हैं। अपने सींगों से, कुहान से, सिरे

* गोत्व में चिन्ह कहने से यह जितलाया है, कि अनुमान से सामान्य का ज्ञान होता है, विशेष का नहीं।

पर बालों वाली पूंछ से और सास्ना से, आंखों से छिपे हुए भी बैल का अनुमान होता है। बैल के सींग बकरी हरिण भैंस आदि से विलक्षण होते हैं, कुहान ऊंट से विलक्षण होता है। पूंछ के सिरे पर बालों का गुच्छा भी गौ का भैंस से विलक्षण होता है। अतएव इनको देखकर गौ का अनुमान होता है।

सं०—इस प्रकार लोक व्यवहार में अनुमान की प्रमाणता दिखला कर अनुमान से वायु की सिद्धि करते हैं—

स्पर्शश्च वायोः ॥९॥

और स्पर्श वायु का (लिंग) है।

व्या०—चलते फिरते समय जो हमारे शरीर को स्पर्श अनुभव होता है, यह किसी द्रव्य के आश्रय है, क्योंकि गुण है। यदि वह द्रव्य पृथिवी जल वा तेज होता, तो रूप भी उसका दृष्टि आता, पर रूप उस का दृष्टि आता नहीं, स्पर्श ही अनुभव होता है, इसलिए वह इन तीनों से विलक्षण कोई और ही द्रव्य है। वही वायु है।

इसी प्रकार शाखाओं के चलने से भी वायु का अनुमान होता है, कि जैसे नदी के प्रवाह की टक्कर से बेंत की शाखाएं हिलती हैं, ऐसे ही वृक्षों की शाखाएं भी अवश्य किसी की टक्कर से हिल रही हैं। वृक्षों की सां सां शब्द से भी वायु का अनुमान होता है, क्योंकि शब्द भी टक्कर से होता है, जैसे घड़याल और ढोलका शब्द। तिनके आदि के आकाश में उड़ने से भी वायु का अनुमान होता है, जैसे पानी पर नौका तैरती है, इसी प्रकार तिनके भी आकाश में अवश्य किसी प्रवाह पर ही तैरते फिरते हैं, वही वायु है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः ॥१०॥

(यह) स्पर्श देखे हुए (द्रव्यों) का नहीं, इसलिए यह अदृष्ट लिङ्ग वाला वायु है।

व्या०—लिङ्ग दो प्रकार का होता है, दृष्ट और अदृष्ट। जिस का साध्य भी पहले प्रत्यक्ष देखा हो, उसको दृष्ट, और जिस का साध्य न देखा हो, उसको अदृष्ट कहते हैं। विलक्षण सींग बैल का दृष्ट लिङ्ग हैं, क्योंकि विलक्षण सींगों समेत बैल को प्रत्यक्ष देखा हुआ है। स्पर्श वायु का अदृष्ट लिङ्ग है क्योंकि अपने स्पर्श सहित वायु को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा। इसलिए वायु अदृष्ट लिङ्ग वाला है।

सं०—वायु को अलग तत्त्व सिद्ध करके उसका द्रव्य होना सिद्ध करते हैं—

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥११॥

द्रव्य वाला न होने से द्रव्य है।

व्या०—वायु द्रव्यवाला नहीं, अर्थात् किसी अन्य द्रव्य के आश्रय नहीं, इसलिए स्वयं द्रव्य है। यदि स्वयं द्रव्य न होता, तो किसी द्रव्य के आश्रय पर होता।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

क्रिया वाला होने से और गुणवाला होने से (भी द्रव्य है)

सं०—स्थूल वायु के साधक नित्य वायु की सिद्धि करते हैं—

द्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

द्रव्य वाला न होने से नित्यता कही है।

व्या०—स्थूल वायु का समवायिकारण सूक्ष्म वायु द्रव्य वाला नहीं अर्थात् द्रव्य समवेत नहीं, इससे उसकी नित्यता

सिद्ध है। इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज के मूल तत्त्वों की भी नित्यता सिद्ध है।

सं०—पृथिवी जल तेज की नाईं वायु की अनेक व्यक्तियां प्रत्यक्ष नहीं तब क्या वायु एक ही व्यक्ति है, वा इस की भी अनेक व्यक्तियां हैं, इस पर कहते हैं—

वायोर्वायु संमूर्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥१४॥

वायुओं का गुथमगुत्था होना वायु के नाना होने का लिङ्ग है।

व्या०—चक्रवात में जो धूल तृण आदि ऊपर को चढ़ते हैं, इस से सिद्ध है, कि वायु गुथमगुत्था हो कर एक दूसरे को ऊपर फैंक रहे हैं, उन्हीं के साथ धूल तृण आदि ऊपर चढ़जाते हैं, यदि एक ही वायु होता, तो धूल तृण आदि उसके साथ आगे को बढ़ते, नकि नीचे ऊपर दाएं बाएं धक्के खाते।

संगति—(प्रश्न) वायु का स्पर्श प्रत्यक्ष है, तो फिर स्पर्श वायु का अदृष्ट लिंग कैसे हुआ, इस आशंका का उत्तर देते हैं—

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥१५॥

वायु के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष न होने से दृष्ट लिङ्ग नहीं है।

यद्यपि स्पर्श प्रत्यक्ष है पर वायु के लिङ्ग (चिन्ह) के रूप में प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि वायु जो प्रत्यक्ष नहीं।

इसलिए स्पर्श अपने स्वरूप से तो प्रत्यक्ष ही है, पर वायु के लिङ्ग के रूप से प्रत्यक्ष नहीं। इसलिए स्पर्श वायु का दृष्ट लिङ्ग नहीं।

संगति—तब वायु का अनुमान ही कैसे हुआ, इसका उत्तर देते हैं:—

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥

सामान्यतोदृष्ट से अविशेष (सिद्ध होता है)

व्या०—यद्यपि विलक्षण स्पर्श और वायु में विशेषरूप से व्याप्ति ग्रह (लिङ्गलिङ्गी भाव का दर्शन) नहीं हुआ, तथापि सामान्य रूप से व्याप्ति ग्रह तो है, कि गुण किसी द्रव्य के आश्रय रहता है, और स्पर्श गुण है, इस का आश्रय भी कोई द्रव्य अवश्य है। सो विशेषतोदृष्टलिङ्ग होता, तो किसी की विशेष रूप से सिद्धि होती। जैसे विलक्षण सींग गौ के साथ विशेषतोदृष्ट है, इसलिए उससे गौ इस विशेष रूप में साध्य सिद्धि होती है, पर स्पर्श सामान्यतोदृष्ट है, इसलिए इस से वायु इस विशेषरूप में साध्य की सिद्धि नहीं किन्तु स्पर्श का आश्रय कोई द्रव्य है, इस सामान्य रूप में सिद्धि होती है।

संगति—यदि वायुत्वेन अनुमान नहीं होता, तो उसकी वायु संज्ञा में क्या प्रमाण है, इसका उत्तर देते हैं—

तस्मादागमिकम् ॥१७॥

इस से आगम सिद्ध है।

व्या—जिस लिए वायुरूप से वायु की अनुमिति नहीं हुई, इसलिए वायु यह नाम आगम सिद्ध है, आनुमानिक नहीं।

संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥१८॥

संज्ञा कर्म हम से बड़ों का चिन्ह है।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

क्योंकि संज्ञा कर्म प्रत्यक्ष से प्रवृत्त होता है ।

व्या–यह नियम नहीं है, कि संज्ञा कर्म प्रत्यक्ष से ही प्रवृत्त होता हो, तथापि जिस को प्रत्यक्षसदृश निश्चयात्मक अनुभव होता है, वही संज्ञा करने में प्रवृत्त होता है। अतएव इस विलक्षण स्पर्श वाले द्रव्य का वायु यह विशेष नाम, जो उसके मुख्य धर्म का प्रतिपादक है, यह हम से बड़ों का चिन्ह है ।

इन दोनों सूत्रों को शंकरमिश्र और जयनारायण ने ईश्वरसिद्धि पर लगाया है, पर 'अस्म द्विशिष्टानां' इस बहुवचन के स्वारस्य से मुनिका अभिमेत अर्थ यही निश्चित प्रतीत होता है ।

संगति—अब क्रमप्राप्त आकाश का प्रकरण आरम्भ करते हुए आकाश की सिद्धि में पहले एक देशिमत दिखलाते हैं—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाश स्य लिंगम्॥२०॥

निकलना और प्रवेश करना यह आकाश का लिङ्ग (है)

व्या–विना अवकाश के किसी द्रव्य का निकलना और प्रवेश करना नहीं बनसकता, इस से सिद्ध है, कि निकलने और प्रवेश करने में अवकाश देने वाला द्रव्य कोई अवश्य है, वही आकाश है ।

संगति—इस एकदेशिमत में त्रुटि दिखलाते हैं ॥

तद लिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥२१॥

वह अलिङ्ग है, क्योंकि कर्म एकके आश्रय होता है ।

व्या–निष्क्रमण और प्रवेशन आकाश का लिङ्ग बन नहीं सकता । क्योंकि निष्क्रमण और प्रवेशन को कार्य मान, कार्य से कारण का अनुमान मानेंगे, तो आकाश निष्क्रमण प्रवेशन

का समवायिकारण तो है नहीं, क्योंकि कर्म एक ही द्रव्य में समवेत होता है (देखो १।१।१७, २६)। सो निष्क्रमण और प्रवेशन जिस मूर्तद्रव्य में समवेत है, उसका कार्य है, उसी का समवायिकारणतया अनुमान करा सकता है, अतएव उसी का लिङ्ग है। आकाश में समवेत नहीं, अतएव समवेतकार्यतया इसका लिङ्ग नहीं।

कारणान्तरानुक्लृप्ति वैधर्म्याच्च ॥२२॥

और कारणान्तर की योग्यता से विरुद्ध धर्मवाला होने से।

व्या—और असमवायिकारण होने की आकाश में योग्यता ही नहीं, क्योंकि असमवायिकारण गुण और कर्म ही होते हैं, आकाश द्रव्य है, इसलिए असमवायिकारणत्व की तो योग्यता से ही विरुद्ध धर्म वाला है।

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

संयोग से कर्म का अभाव होता है।

व्या—आकाश कर्म का निमित्तकारण भी नहीं बन सकता क्योंकि कर्म की उत्पत्ति में तो कोई सहायता देता ही नहीं, कर्म को प्रवृत्त रखने में भी कोई सहायता नहीं देता क्योंकि मूर्तद्रव्य के साथ जालगने पर कर्म की निवृत्ति देखते हैं, न के आकाश के अभाव से। आकाश का अभाव तो कहीं है ही नहीं। जब संयोग प्रतिबन्धक हुआ है, तो संयोगाभाव निमित्त ठहरता है। आकाशाभाव प्रतिबन्धक होता, तब आकाश निमित्त ठहरता।

संगति—तो फिर आकाश की सिद्धि में क्या लिङ्ग है, इस के उत्तर में शब्द ही आकाश का लिंग है, ऐसा दिखलाने के लिए भूमिका बांधते हैं—

कारण गुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

कारणगुणपूर्वक कार्य गुण देखा गया है।

व्या-कार्य का जो विशेष गुण होता है। वह कारणगुणपूर्वक होता है। जैसा रूप तन्तुओं का होता है, तत्सजातीय ही रूप वस्त्र का होता है।

कार्यान्तराप्रादुर्भावात् शब्दः स्पर्शवताम गुणः॥ २५॥

कार्यान्तर के प्रकट न होने से शब्द स्पर्श वालों का गुण नहीं है।

व्या-स्पर्श वाले चार द्रव्य जो पृथिवी, जल, तेज, वायु हैं। शब्द यदि इन में से किसी का गुण होता, तो जैसे मृदङ्ग आदि में उत्पन्न होने वाले रूपादि के सजातीय रूपादि उन के अवयवों में अनुभव होते हैं, वैसे मृदङ्ग आदि में उत्पन्न होने वाले शब्द के सजातीय शब्द भी उन के अवयवों में अनुभव होता, पर ऐसा होता नहीं, किन्तु निःशब्द अवयवों से ही मृदङ्ग आदि की उत्पत्ति होती है। इस से सिद्ध है, कि शब्द मृदङ्ग आदि का गुण ही नहीं।

दूसरा-स्पर्श वालों के विशेष गुण, जब तक वस्तु बनी रहे, तब तक, उस में प्रकट रहते हैं, पर शब्द सदा नहीं बना रहता। इस से भी सिद्ध है, कि शब्द इन का गुण नहीं, किसी और का ही है।

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः॥२६॥

पर में समवेत होने से और प्रत्यक्ष होने से न आत्मा का गुण है, न मन का गुण है।

व्या–शब्द यदि आत्मा का गुण होता, तो 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' इत्यादि की नाईं 'मैं पूरा जाता हूं, मैं बजाया जाता हूं' इत्यादि अनुभव होता, पर अनुभव होता है, शंख पूरा जा रहा है, बाजा बजाया जा रहा है। सो शब्द आत्मा से भिन्न में अनुभव होने से आत्मा का गुण नहीं। और प्रत्यक्ष होता है, इस लिये मन का भी गुण नहीं, क्योंकि मन का कोई भी गुण प्रत्यक्ष नहीं होता ॥

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥ २७॥

परिशेष से आकाश का लिङ्ग है।

व्या–उक्त रीति से शब्द न स्पर्श वालों का गुण ठहरा, न आत्मा और मन का गुण हुआ, तो परिशेष से आकाश का गुण सिद्ध होता है। अतएव शब्द ही आकाश का लिङ्ग है।

द्रव्यत्व नित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु से व्याख्या किये गए।

व्या–वायु को जैसे गुण वाला होने से द्रव्य, और वायु के परमाणु को द्रव्यानाश्रित होने से नित्य सिद्ध किया है। वैसे आकाश भी शब्द गुण वाला होने से द्रव्य और द्रव्य के अनाश्रित होने से नित्य है।

तत्त्वं भावेन ॥ २९॥

एक होना सत्ता से (व्याख्यात है)

व्या—जैसे सत्ता एक है, वैसे आकाश एक है।

शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ।३०।

शब्दरूप लिङ्ग के भेद न होने से और भेदक लिङ्ग के न होने से।

व्या—क्योंकि 'सत् सत्' यह सर्वत्र अविशेष प्रतीति सत्ता के एकत्व की साधिका है, वैसे शब्द लिङ्ग की सर्वत्र अविशेष प्रतीति आकाश के एकत्व की साधिका है। और भेदक प्रतीति जैसे सत्ता के विषय में नहीं, वैसे आकाश के विषय में भी नहीं।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वंचेति ॥ ३१ ॥

उस के अनुसारी होने से एक पृथक्त्व भी (व्याख्यात है)

व्या—जहां एकत्व होगा, वहां एकपृथक्त्व भी रहेगा। क्योंकि एक होना एक पृथक् व्यक्ति होने का बोधक है।

द्वितीय अध्याय—द्वितीय आह्निक

संगति—पृथिवी आदि का गन्ध वाली होना आदि लक्षण कहे, ये लक्षण कैसे घटते हैं, जब कि गन्ध आदि वायु आदि में भी पाए जाते हैं, इस शंका को मिटाने के लिए वायु आदि में गन्ध आदि की प्रतीति को औपाधिक व्यवस्थापित करते हैं—

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥ १ ॥

पुष्प और वस्त्र के सम्बन्ध होने पर गुणान्तर (तन्तुओं के गुणों) से प्रकट न होना वस्त्र में (वैसे) गन्ध के अभाव का लिङ्ग है।

व्या–वस्त्र में गुलाब चंबेली आदि के जैसे फूल रक्खे जाएं, उन्हीं फूलों का गन्ध वस्त्र से आएगा। यह विलक्षण गन्ध वस्त्र के कारणगुणपूर्वक वस्त्र में नहीं आया, इस से स्पष्ट है, कि यह गन्ध वस्त्र में स्वाभाविक नहीं, औपाधिक है। अपना नहीं, फूलों का है। फूलों के सूक्ष्म अवयव उस में रह गए हैं, जो उस प्रकार वास देते हैं।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

नियम से स्थित है पृथिवी में गन्ध।

व्या–गन्ध पृथिवी में अवश्य रहता है, और पृथिवी में ही रहता है। इस लिये 'सुरभिवायु' इत्यादि जो वायु में गन्ध की प्रतीति है, वह औपाधिक है। सुगन्धित फूलों से हो कर जो वायु आता है, उस में फूलों के सूक्ष्म अवयव मिले रहते हैं, उन्हीं का गन्ध वायु में प्रतीत होता है। ऐसे ही जल में भी गन्ध पार्थिव अंश के सम्बन्ध से औपाधिक ही भान होता है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

इस से उष्णता व्याख्या की गई।

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

तेज की उष्णता।

व्या–यह जो पृथिवी, जल, वायु में उष्णता प्रतीत होती है, यह तेज के सम्बन्ध से उन में औपाधिक है। स्वाभाविक उष्णता तेज में ही है।

अप्सुशीतता ॥ ५ ॥

जलों में शीतता है।

व्या-स्वाभाविकी शीतता जलों में ही है। शिलातल आदि में जो शीतता प्रतीत होती है, वह औपाधिकी है।

संगति-विशेष गुणों की स्वाभाविक और औपाधिक प्रतीति का भेद दिखला कर, अब क्रम प्राप्त काल का स्वरूपादि बतलाते हैं—

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काल लिंगानि ॥६॥

छोटे में छोटा, तथा, इकट्ठे चिर, शीघ्र ये (प्रतीतियें) काल के लिङ्ग हैं।

व्या-यह इस से छोटा है, और यह बड़ा है, यह प्रतीति काल का लिङ्ग है। 'इस से छोटा' कहने का यह अभिप्राय है, कि इस का जन्म पहले का है, इस का पीछे का है, पहले पीछे से अभिप्राय जिस वस्तु से है, वही काल है। इसी प्रकार ये दोनों घड़े इकट्ठे बने हैं। घड़े तो दोनों अलग २ हैं, पर इकट्ठे का अभिप्राय सिवाय इस के और क्या हो सकता है, कि दोनों एक काल में हुए हैं। इसी प्रकार रामकृष्ण मुझे चिर पीछे मिला है। हरिश्चन्द्र शीघ्र मिला है। ये प्रतीतियें भी चिर और शीघ्र शब्दों से जिस वस्तु का बोधन करती हैं, वही काल है।

द्रव्यत्व नित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु से व्याख्यात हैं।

व्या-वायु के परमाणु की नाईं, किसी द्रव्य के आश्रित न होने से काल का द्रव्य और नित्य होना सिद्ध है।

तत्त्वं भावेन ॥ ८ ॥

एकत्व सत्ता से व्याख्यात है।

व्या-पूर्व काल में उत्तर काल में एक काल में इत्यादि सर्वत्र काल व्यवहार की अविशेष प्रतीति से अखण्ड काल एक ही है । क्षण मुहूर्त घड़ी पहर दिन रात सप्ताह मास वर्ष युग ये सब व्यवहार उस में उपाधिभेद से होते हैं ।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ९

नित्यों में न होने से और अनित्यों में होने से कारण में काल संज्ञा है ।

व्या-दिन को उत्पन्न हुआ है, रात को उत्पन्न हुआ है, पुराना है, नया है, इत्यादि प्रतीतियें यतः नित्यों (परमाणुओं वा आकाशादि) के विषय में नहीं होतीं, किन्तु अनित्यों (उत्पत्ति वालों) के विषय में ही होती हैं, इस से स्पष्ट है, कि काल उत्पत्ति वाले सारे कार्यों का निमित्त कारण है।

संगति-अब क्रम प्राप्त दिशा का प्रकरण आरम्भ करते हैं ।

इत इदमितियतस्तद्दिश्यं लिंगम् १०

'यहां से यह' यह (प्रतीति) जिस से है, वह दिशा का लिङ्ग है ।

व्या-यहां से यह दूर है, यह निकट है, ऐसी प्रतीति जिस से होती है, वह दिशा का लिङ्ग है ।

'यहां से देहली निकट है, प्रयाग दूर है' का अभिप्राय यह है, कि यहां से देहली तक जितने देश का सम्बन्ध है, उस से अधिक देश का सम्बन्ध प्रयाग तक है । यह अखण्ड देश ही दिशा है ।

द्रव्यत्व नित्यत्वे वायुना व्याख्याते ११

(दिशा का) द्रव्य और नित्य होना वायु से व्याख्या किये गए हैं।

तत्त्वं भावेन १२

और एकत्व सत्ता से (व्याख्या किया गया है)।

संगति—दिशा के एक होने पर भी प्राची आदि व्यवहार का उपपादन करते हैं—

कार्यविशेषेण नानात्वम् १३

कार्य भेद से नानात्व है।

व्या—व्यवहार की सुगमता के लिए हम दिशा में नाना भेद कल्पना कर लेते हैं, वस्तुतः अखण्ड दिशा एक ही है।

संगति—इसी का उपपादन करते हैं—

आदित्य संयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची १४

हो चुके हुए, होने वाले वा होते हुए सूर्य संयोग से प्राची होती है।

व्या—उदय होते हुए सूर्य का प्रथम संयोग जिधर हुआ है, उस को प्राची कहते हैं। 'हो चुके हुए, होने वाले वा होते हुए,' कहने का यह अभिप्राय है, कि उदय के समय मनुष्य वर्तमान संयोग की दृष्टि से उस को प्राची कहता है। दोपहर के समय भूतपूर्व संयोग को लेकर, और प्रभात के समय भविष्यत् संयोग को लेकर कहता है। अन्यदा भी अपनी स्वतन्त्र रुचि के अनुसार कभी भूत और कभी भविष्यत् उदय को

लेकर व्यवहार करता है, इस लिए वर्तमान के साथ भूत भविष्यत् का भी निर्देश किया है ।

तथा दक्षिणाप्रतीची उदीची च ॥१७

वैसे दक्षिणा, प्रतीची और उदीची भी ।

व्या-उदय होते हुए सूर्य के सम्मुख खड़े होने पर जिधर दक्षिण हाथ है, वह दक्षिणा, जिधर पीठ है, वह प्रतीची, जिधर वाम हाथ, वह उदीची कहलाती है । यहां भी भूत और भविष्यत् संयोग को लेकर व्यवहार प्राचीवत् तुल्य है ।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि १६

इस से दिगन्तराल व्याख्या किये गए ।

व्या-इसी रीति से दिशाओं के अन्तराल भी जानने । अर्थात् पूर्व और दक्षिण के अन्तराल की दिशा दक्षिणपूर्वा, इसी प्रकार दक्षिणपश्चिमा, पश्चिमोत्तरा, उत्तरपूर्वा । इसी प्रकार ऊपरली और निचली दिशा जाननी ।

संगति-अब आत्मा का प्रकरण आरम्भ करने से पूर्व पूर्वोक्त शब्द की परीक्षा करना चाहते हुए परीक्षा के अंग संशय के कारण दिखलाते हैं—

सामन्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

सामान्य के प्रत्यक्ष से, विशेष के अप्रत्यक्ष से और विशेष की स्मृति से संशय होता है ।

व्या-जब किसी वस्तु का सामान्य रूप प्रत्यक्ष हो, और विशेष रूप अप्रत्यक्ष हो, पर विशेष की स्मृति हो, तो संशय

उत्पन्न हो जाता है । जैसे स्थाणु का ऊंचा होना जो स्थाणु और पुरुष का सामान्य धर्म है, वह तो प्रत्यक्ष है, और वक्र होना वा खोड़ वाला होना जो स्थाणु का विशेषधर्म है, और हाथ पाओं आदि वाला होना जो पुरुष का विशेष धर्म है, यह अप्रत्यक्ष है, और दोनों के ये जो विशेषधर्म हैं, उन की स्मृति अवश्य है, इस कारण से संशय उत्पन्न होता है, कि यह स्थाणु है वा पुरुष है ।

दृष्टं च दृष्टवत् १८.

देखी हुई वस्तु देखे हुए धर्मों वाली है ।

व्या—अब संशय के भेद दिखलाते हैं—संशय दो प्रकार का होता है, एक साक्षात विषय का संशय, दूसरा प्रामाण्य के संशय से विषय का संशय । साक्षात विषय संशय के दो भेद हैं—एक देखी वस्तु जब देखे हुए धर्मों वाली हो, जैसे सामने वर्तमान स्थाणु देखे हुए धर्म वाला है, अर्थात् स्थाणु और पुरुष की नाईं ऊंचा है, इस से संशय होता है, कि यह स्थाणु है, वा पुरुष है । अथवा जैसे झाड़ियों के अन्दर चरते हुए पशु के सींगमात्र देख कर यह संशय होता है, कि यह गौ है वा गवय है । संशय दोनों जगह साधारण धर्म से हुआ है । भेद दोनों में यह है, कि पहले उदाहरण में धर्मी स्थाणु भी प्रत्यक्ष है, और उस का धर्म ऊर्ध्वत्व भी प्रत्यक्ष है । दूसरे में धर्म सींग तो प्रत्यक्ष है । धर्मी प्रत्यक्ष नहीं ।

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च १९

जैसी देखी वस्तु, न वैसी देखी होने से (संशायक होती है)

व्या–चैत्र को पहले जैसे देखा अर्थात् बालों वाला, दूसरे अवसर पर उस को वैसा नहीं देखा, तब फिर देखने पर यह संदेह होता है, कि चैत्र सकेश है वा निष्केश है।

विद्या विद्यातश्च संशयः। २०।

विद्या और अविद्या से संशय होता है।

व्या–आन्तर संशय का उदाहरण देते हैं–

विद्या प्रमा अविद्या भ्रम। जो ज्ञान होता है, वह यथार्थ भी निकलता है, और अयथार्थ भी। जैसे किसी ज्योतिर्विद् ने एक बार जिस दिन जिस समय ग्रहण का निर्धारण किया वह यथार्थ निकला, दूसरी बार अयथार्थ निकला, तब फिर उस को अपने निर्धारण में संशय उत्पन्न होगा, कि मुझे यह ज्ञान यथार्थ हुआ है, वा अयथार्थ। ज्ञान के संशय से विषय में संशय होगा। ऐसे संशय गणित के विषय में प्रायः होते रहते हैं, इसी लिए पुरुष दुबारा तिबारा गिनता है।

विद्या अविद्या अर्थात् ज्ञान अज्ञान से भी संशय होता है, दूर से जल देखकर पुरुष वहां पहुंचता है, तो वहां जल पाता है, और कभी मरीचिका में जल की भ्रान्ति से प्रवृत्त हुआ नहीं भी पाता है। फिर दूर से जल देखने पर संशय होता है, कि यह ज्ञान सत्य हुआ है, वा असत्य है। इसी प्रकार विद्यमान भी जल का ज्ञान नहीं होता नारियल में, और असत्य है ही नहीं। अब कहीं जल के अज्ञान में संशय होता है, कि क्या नहीं है, इस लिए नहीं दीखता है, वा है, तो भी नहीं दीखता है।

संगति-इस प्रकार परीक्षा के अंग संशय का व्युत्पादन करके, परीक्षणीय शब्द की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः । २१ ।

श्रोत्र से ग्रहण किया जाता जो अर्थ है, वह शब्द है ।

संगति-शब्द को आकाश का लिङ्ग सिद्ध करने के लिए पहले शब्द का गुण होना परीक्षापूर्वक सिद्ध करते हैं—

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथादृष्टत्वात् । २२ ।

तुल्य जाति वालों में और दूसरे अर्थों में उभयत्र विशेष के न देखा हुआ होने से (संशय उत्पन्न होता है)

व्या-शब्द में जो श्रोत्रग्राह्यता दूसरों से विशेषधर्म है । यह विशेष न उस के सजातियों में पाया जाता है, न दूसरे अर्थों में अर्थात विजातियों में । शब्द को यदि गुण कहें, तो दूसरे गुण उस के सजातीय होंगे, श्रोत्र ग्राह्यता उन में से किसी में है नहीं, जिस से इस को भी तद्वत् गुण मान लें, और विजातीय होंगे द्रव्य और कर्म । उन में से भी श्रोत्रग्राह्यता किसी में है नहीं, जिस से इस को तद्वत् द्रव्य वा कर्म माना जाय । इसी तरह शब्द को द्रव्य माना जाय, तो सजातीय द्रव्य होंगे और विजातीय गुण कर्म, और कर्म मानें तो सजातीय कर्म होंगे और विजातीय द्रव्य गुण, सर्वथा श्रोत्रग्राह्यता सजातीय विजातीय दोनों में अदृष्ट होने से निश्चय नहीं हो सकता है, कि शब्द द्रव्य है वा गुण है वा कर्म है । इस लिए शब्द द्रव्य है, गुण है, वा कर्म है, यह संशय उत्पन्न होता है ।

संगति-इस प्रकार त्रिकोटिक संशय उठाकर द्रव्य कोटि के खण्डन के लिए कहते हैं—

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

एक समवायि वाला होने से द्रव्य नहीं है।

व्या-कार्य द्रव्य कोई भी ऐसा नहीं हो सकता, जिस का समवायि कारण एक ही द्रव्य (अवयव) हो, पर शब्द का समवायि एक ही द्रव्य है (२।१।३०) इस लिए द्रव्य से विरुद्ध धर्म वाला होने से शब्द द्रव्य नहीं है।

संगति-अस्तु, कर्म एक द्रव्य के आश्रित होता है, इस लिए शब्द कर्म हो सकता है, इस पर कहते हैं—

नापि कर्मा चाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

कर्म भी नहीं, क्योंकि अचाक्षुष है।

व्या-यदि शब्द कर्म होता, तो चक्षुर्ग्राह्य होता, क्योंकि प्रत्यक्ष कर्म सब चक्षुर्ग्राह्य होते हैं, और शब्द है तो प्रत्यक्ष, पर चक्षुर्ग्राह्य नहीं, इस से स्पष्ट है, कि कर्म की जाति का नहीं।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ।२५

गुण होते हुए का झट नाश जो है, यह कर्मों के साथ साधर्म्य है।

व्या-जब कर्म आशुविनाशी हैं, और शब्द भी आशुविनाशी है, तो फिर इस को कर्म क्यों न माना जाय, इस आशंका का यह उत्तर दिया है, कि यह नियम नहीं, कि कर्म ही आशुविनाशी है, द्वित्वादि संख्या, ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुण भी तो आशु विनाशी हैं, इस लिए शब्द जब परिशेष से गुण

सिद्ध हो गया, तो आशुविनाशी होना कर्म के साथ उसका साधर्म्य माना जा सकता है, न कि कर्मत्व ही।

संगति-(प्रश्न) पूर्वोक्त साधर्म्य तब माना जाय, जब शब्द का विनाश होता हो, पर शब्द तो उत्पत्ति विनाश दोनों से रहित है। वह सदा विद्यमान रहता है। उच्चारण से उस की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु पूर्व विद्यमान की ही अभिव्यक्ति होती है, जैसे अन्धेरे में विद्यमान घट की दीपक से अभिव्यक्ति होती है, इस आशंका का उत्तर देते हैं —

सतो लिंगाभावात् ॥ २६ ॥

विद्यमान के लिङ्ग का अभाव होने से।

व्या-उच्चारण से पूर्व शब्द की विद्यमानता का कोई लिङ्ग नहीं। अतएव उस के विद्यमान होने में कोई प्रमाण नहीं।

संगति-साधक का अभाव कह कर बाधक भी कहते हैं—

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

नित्य से विरुद्ध धर्म वाला होने से।

व्या-नित्य का विनाश नहीं होता, और शब्द का विनाश प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस प्रकार नित्य के विरुद्ध धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है।

दूसरा-एक ही शब्द की उत्पत्ति चैत्र से विलक्षण और मैत्र से विलक्षण होती है। अतएव अन्धेरे में उनके अपने २ शब्द से ही चैत्र और मैत्र का ज्ञान हो जाता है। अभिव्यक्ति में यह बात नहीं पाई जाती, ऐसा नहीं होता, कि घड़ा एक दीपक से विलक्षण और दूसरे से विलक्षण प्रतीत हो। अतएव घड़े की अभिव्यक्ति से दीपक के भेद का अनुमान नहीं होता, पर

शब्द के भेद से वक्ता का अनुमान होता है, यह दूसरा वैधर्म्य नित्य से है।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

और अनित्य है यह, कारण से।

व्या–शब्द अनित्य है, क्योंकि कारण वाला है। और नित्य कारण वाले नहीं होते।

नचासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

असिद्ध भी नहीं, विकार वाला होने से।

व्या–यदि कहो, कि भेरी दण्ड संयोग शब्द का व्यञ्जक है, कारण नहीं, इस लिए 'कारण वाला होना' यह तुम्हारा हेतु ही असिद्ध है, तो इस का उत्तर यह है, कि शब्द यतः विकार वाला है, भेरी दण्ड संयोग के तीव्र होने से शब्द भी तीव्र होता है, और मन्द होने से शब्द भी मन्द होता है, इस लिए कारण वाला होना सिद्ध है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

अभिव्यक्ति में दोष से।

व्या–यदि तीव्र संयोग से तीव्र शब्द की और मन्द संयोग से मन्द शब्द की अभिव्यक्ति मानो, तो इस में यह स्पष्ट दोष है, कि जो पदार्थ समानदेशी हों, उन सब की अभिव्यक्ति एक ही व्यञ्जक से हो जाती है, जैसे अन्धेरे में पड़ी वस्तुओं की गिनती के लिए कोई दीपक जलाए, तो यह नहीं होगा, कि उन वस्तुओं के रूप आकारादि उस से अभिव्यक्त न हों, क्योंकि वे सब समानदेशी हैं, और एक ही इन्द्रिय अर्थात् नेत्र से

ग्राह्य हैं, इस लिए उन सब का व्यञ्जक भी एक ही है। यह नहीं होता, कि संख्या की अभिव्यक्ति के लिए एक दीपक की और रूप की अभिव्यक्ति के लिए दूसरे की दीपक की अपेक्षा हो। इसी प्रकार यदि भेरीदण्ड संयोग भी शब्दों का व्यञ्जक हो, तो समान देशी यावत् शब्दों की एक ही संयोग से अभिव्यक्ति हो जाए, क्योंकि वे सब श्रोत्र से ही ग्राह्य हैं।

संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ३१

संयोग से विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

व्या-पहले पहले शब्द संयोग से वा विभाग से उत्पन्न होता है, जैसे भेरीदण्ड के संयोग से वा बांस के दो दलों के विभाग से शब्द उत्पन्न होता है। यह शब्द तो वहीं उत्पन्न हुआ, जहां संयोग और विभाग हुआ। पर शब्द वहीं नहीं, दूर २ तक सुना जाता है। यह इस प्रकार होता है, जैसे तालाब के मध्य में पत्थर फैंकने से पानी में वहां बड़ी तरंग उठती है। उस तरंग से आगे २ चारों ओर तरंगें उठती जाती हैं, पर अगली २ तरंगें पहली २ से छोटी होती जाती हैं, अन्ततः नाश हो जाती हैं। इसी प्रकार संयोग और विभाग से पहले तीव्र शब्द उत्पन्न होता है, फिर आगे चारों ओर तरंग की नाईं शब्द से शब्द उत्पन्न होते जाते हैं, और अगला २ शब्द मन्द २ होता हुआ अन्ततः लीन हो जाता है। इस से सिद्ध है, कि शब्द की उत्पत्ति होती है, न कि अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति में तो वही शब्द सर्वत्र एक ही जैसा सुनाई देना चाहिये। अथवा संयोग

विभाग के स्थान से परे शब्द होना ही नहीं चाहिये, क्योंकि अभिव्यक्ति वहां ही होती है, जहां अभिव्यञ्जक होता है।

लिंगा च्चा नित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

लिङ्ग से अनित्य है शब्द।

व्या–सो जब उत्पत्ति सिद्ध है, तो इसी लिङ्ग से शब्द अनित्य सिद्ध है।

संगति–इस पर नित्यत्ववादी कहता है—

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योर भावात् ॥ ३३ ॥

दोनों की प्रवृत्ति के अभाव से।

व्या–गुरु शिष्यों को जो मन्त्र पढ़ाता है (देता है) शिष्य उस को ग्रहण करते हैं। यह शब्द का दान और प्रतिग्रह तभी बन सकता है, यदि शब्द उतनी देर तक स्थिर रहे। अन्यथा देना लेना बन नहीं सकता, और जब उतनी देर तक स्थिर बना रहा, तो 'तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति' उतनी देर स्थिर रहे शब्द को पीछे कौन नाश करेगा। इस युक्ति से शब्द की नित्यता ही सिद्ध होती है।

प्रथमाशब्दात् ॥३४ ॥

प्रथमा शब्द से (भी नित्य है)

व्या–ऋग्वेद मण्डल ३ सूक्त २७ की १–११ ऋचाएं सामिधेनी कहलाती हैं, क्योंकि इन से अग्नि प्रदीप्त किया जाता है। इन के विषय में कहा है–'तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इन में से पहली ऋचा को तीन वार उचारे, और तीन वार ही अन्तली ऋचा को (ऐत० ब्रा० ३। १)। अब यदि

ऋचा उसी समय नाश हो जाय, तो उस का तीन वार उच्चारण कैसे हो, तीन वार उच्चारण की आज्ञा देने से सिद्ध है, कि ऋचा स्थिर बनी रहती है।

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

प्रत्यभिज्ञा के होने से (भी नित्य है)

व्या–पहले अनुभव किये हुए की पहचान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा शब्द के विषय में–'चैत्र उसी गाथा को उचार रहा है, जो मैत्र ने उचारी थी' 'यह उसी श्लोक को वार २ पढ़ रहा है' "जो वाक्य तूने पर और परार कहा था उसी को अब तू फिर कह रहा है" 'यह वही 'ग' है' इस प्रकार होती है। इस अबाधित प्रत्यभिज्ञा के बल से शब्द नित्य सिद्ध होता है।

संगति–इन सब हेतुओं में दोष दिखलाते हैं—

संदिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

संदिग्ध हैं बहुत्व के होते हुए।

व्या–ये सारे हेतु संदिग्ध हैं, व्यभिचारी हैं, क्योंकि जैसे एक ही स्थिर शब्द मानने मे ये हेतु घट सकते हैं। वैसे नाना मानने में भी घट सकते हैं। जैसे नाच। सिखाने वाले का नाच अलग होता है, सीखने वाले का अलग। तो भी सीखना सिखाना होता है। जैसे यहां सीखने का यह अर्थ नहीं, कि गुरु अपनी नृत्य शिष्य को देता है, और शिष्य लेता है, किन्तु यह अर्थ है, कि शिष्य गुरु के नृत्य का अनुकरण करता है, इसी तरह पढ़ने में भी शिष्य गुरु के शब्दों का अनुकरण ही करता है। इसी प्रकार एक ही नाच तीन वार नाचने की नाईं

तीन वार उच्चारण भी अनुकरण मात्र है। और यह वही नृत्य है, जो इस ने पर वा परार किया था, यह प्रत्यभिज्ञा भी तत्सदृश नृत्य को लेकर है। सो ये हेतु व्यभिचारी होने से नित्यता के साधक नहीं हो सकते, और नित्यता के बाधक तथा अनित्यता के साधक अव्यभिचारी हेतु पूर्व दिखला दिये हैं, इस लिए शब्द अनित्य है।

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

संख्या का होना सामान्य से है।

व्या-(प्रश्न) यदि वर्ण अनित्य हैं, तो फिर तो अनगिनत वर्ण हो जायंगे। तब वर्ण पचास हैं, वा त्रिसठ वा चौसठ हैं, इत्यादि कथन कैसे बन सकता है।

उत्तर-यह संख्या सामान्य धर्म को लेकर कही जाती है। जितने 'क' हैं, सब में कत्व=कपन समान हैं, इस लिए 'क' एक गिना गया। इस अभिप्राय से वर्णों की संख्या नियत की जाती है। जैसे द्रव्य असंख्य हैं, तौ भी पृथिवीत्व आदि सामान्य धर्म को लेकर नौ द्रव्य कहे जाते हैं। यह वही 'ग' है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा भी इसी जाति के सहारे पर होती है। जैसे कटे हुए बाल फिर उतने बड़े हो जाने पर 'यह वही बाल हैं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

तृतीय अध्याय, प्रथम आह्निक।

संगति-बाह्य द्रव्यों की परीक्षा करके, आन्तर द्रव्यों की परीक्षा में, उद्देश क्रम से प्राप्त आत्मा की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

प्रसिद्ध इन्द्रियों के विषय ।

व्या–नेत्र, रसना, घ्राण, त्वचा और श्रोत्र ये पांच इन्द्रिय हैं, इन पाचों के क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पांच विषय प्रसिद्ध हैं। अर्थात् सब के प्रत्यक्ष सिद्ध हैं।

संगति–इस प्रत्यक्ष सिद्धि का आत्म परीक्षा में उपयोग दिखलाते हैं।

इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः २

इन्द्रियों के विषयों की प्रसिद्धि इन्द्रियों और विषयों से भिन्न अर्थ का हेतु है।

व्या–यह जो इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह गुण है, अतएव किसी द्रव्य के आश्रित होना चाहिये, जो इस का आश्रय द्रव्य है, वही आत्मा है।

संगति–ज्ञान शरीर के आश्रय है, क्योंकि वह शरीर का कार्य है, इस अनुमान से जब ज्ञान का आश्रय शरीर निश्चित हो गया, तो भिन्न आत्मा की सिद्धि नहीं होगी, इस आक्षेप का उत्तर देते हैं—

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

वह अहेतु (हेत्वाभास) है।

व्या–शरीर को ज्ञान का आश्रय सिद्ध करने के लिए यह जो हेतु दिया है, कि ज्ञान शरीर का कार्य है, यह हेतु ही नहीं, क्योंकि ज्ञान शरीर का कार्य है, यही बात सिद्ध नहीं हो सकती, और जो स्वयं असिद्ध है, वह किसी का साधक कैसे हो सकता है, क्योंकि–

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

कारण में ज्ञान का अभाव होने से ।

व्या–शरीर कार्य है, अतएव उस में जो विशेष गुण हैं, वे कारणगुणपूर्वक (२ । १ । २४) ही हो सकते हैं, पर शरीर के कारण जो सूक्ष्मभूत हैं, ज्ञान उन में नहीं पाया जाता रूपादि पाये जाते हैं । सो रूपादि तो कारणगुणपूर्वक होने से शरीर के निज धर्म हैं । और ज्ञान वस्त्र में पुष्प गन्ध की नाईं किसी अन्य का धर्म प्रतीत होता है ।

संगति–(प्रश्न) शरीर के कारणों में सूक्ष्म ज्ञान मानकर शरीर में उसी का स्फुट होना मान लें, तो क्या हानि है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं—

कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

कार्यों में ज्ञान से ।

व्या–यदि शरीर के कारणों में सूक्ष्म ज्ञान हो, तो उन के सारे कार्यों में ज्ञान होना चाहिये, फिर यह नहीं हो सकता, कि शरीर में तो ज्ञान हो, और घट आदि में न हो ।

संगति–(प्रश्न) घट आदि में भी सूक्ष्म ज्ञान मान लें, तो क्या हानि है ? इस का उत्तर देते है—

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

अनुपलब्धि से ।

व्या–घटादि में किसी भी प्रमाण से ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती, इस लिए उन में ज्ञान मानना अयुक्त है ।

संगति–तो भी ज्ञान ज्ञानधारा का साधक हो सकता है– जिस का कि वह स्वरूप है, आत्मा जो कि ज्ञान से भिन्न वस्तु है, उस का साधक कैसे हो, इस आशंका का उत्तर देते हैं—

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

अन्य ही हेतु होता है, इस लिए हेतु नहीं है।

व्या-भिन्न वस्तु ही हेतु करके माना जाता है, इस लिए आप ही अपना हेतु नहीं होता।

संगति-यदि साध्य से भिन्न ही हेतु होता है, तो फिर जिस को जिस का चाहो, हेतु मानकर उसी वस्तु की उस से सिद्धि कर ली। हेतु साध्य का कोई नियम नहीं रहेगा, इस का उत्तर देते हैं—

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥ ८ ॥

न हि-अन्य वस्तु हरएक अन्य वस्तु का हेतु होती है।

संगति-तो फिर कौन किस का हेतु होता है? इस का उत्तर देते हैं—

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ।९।

संयोगि, समवायि, एकार्थसमवायि और विरोधि।

व्या-जिस भिन्न वस्तु का दूसरी भिन्न वस्तु के साथ संयोग, समवाय, एकार्थ समवाय वा विरोध हो, वही उस दूसरे साथी का हेतु होता है। संयोगि जैसे रथ को चलता देख कर आगे जुते हुए (रथ से संयुक्त) घोड़े का, वा यथा योग्य चलता देख बीच में बैठे (रथ से संयुक्त) सारथि का अनुमान होता है। समवायि जैसे स्पर्श से वायु का। एकार्थ समवायि और विरोधि के उदाहरण अगले सूत्रों में देंगे।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

कार्य दूसरे कार्य का।

व्या–किसी द्रव्य का एक कार्य उसी द्रव्य के दूसरे कार्य का लिङ्ग होता है। जैसे गन्ध रस का लिङ्ग है। सूंघने से जिस का गन्ध अनुभव हो, चखने से उस का अवश्य रस भी अनुभव होगा। क्योंकि गन्ध पृथिवी का कार्य है, और रस पृथिवी में अवश्य रहता है। यही एकार्थसमवायि लिङ्ग है। अर्थात् गन्ध जो लिङ्ग है और रस जो साध्य है, ये दोनों एक वस्तु में समवेत हैं।

संगति–विरोधि लिङ्गके भिन्न २ प्रकार के उदाहरण देते हैं—

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

विरोधि (लिङ्ग है) न हुआ हुए का (जैसे बरसने वाली घटा के आने पर न हुई वृष्टि आकाश में हुए प्रतिबन्धक वायु-संयोग का लिङ्ग है)

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

हुआ न हुए का (जैसे हुई वृष्टि न हुए प्रतिबन्धक वायु-संयोग का लिङ्ग है)

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

हुआ हुए का (जैसे विलक्षण फुंकार करता हुआ सर्प झाड़ी में विद्यमान नेवले का विरोधि लिङ्ग है)

संगति–इन हेतुओं के सद्धेतु होने का नियामक दिखलाते हैं—

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥

व्याप्ति के अधीन होने से लिङ्ग के।

व्या–लिङ्ग का ज्ञान व्याप्तिज्ञान के अधीन होता है।

व्याप्ति अटल सम्बन्ध को कहते हैं । जैसे धूम का अग्नि के साथ अटल सम्बन्ध है । धूम विना अग्नि के कभी नहीं होगा, अतएव धूम अग्नि का लिङ्ग है । पर अग्नि विना धूम के भी रहती है, इस लिए अग्नि धूम का लिङ्ग नहीं । ऐसे ही सर्वत्र व्याप्ति सम्बन्ध से ही लिङ्ग का निश्चय करना चाहिये ।

संगति-प्रसंग से हेत्वाभासों का निरूपण करते हैं—

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् संदिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥

व्याप्ति रहित असद्धेतु (हेत्वाभास) होता है, तथा असिद्ध और संदिग्ध असद्धेतु होता है ।

संगति-व्याप्ति रहित और असिद्ध का उदाहरण दिखलाते हैं—

यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः ॥ १७ ॥

क्योंकि सींग वाला है, इस लिए घोड़ा है ।

व्या-जब गधे को देख कर यह बात कही हो, तो यहां दोनों हेत्वाभास घट जाते हैं । घोड़े के सींग अप्रसिद्ध हैं, इस लिए अप्रसिद्ध हेत्वाभास है । और जो हेतु दिया है, वह असिद्ध है, क्योंकि सींग ही वहां नहीं है । गधे के सींग नहीं होते ।

सं-संदिग्ध का उदाहरण देते हैं—

यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १८ ॥

क्योंकि सींगों वाला है, इस लिए गौ है, यह अनैकान्तिक (=संदिग्ध) का उदाहरण है ।

व्या-विलक्षण सींगों से तो गौ की सिद्धि हो सकती है, पर निरे सींग मात्र से गौ की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सींग भैंस आदि के भी होते हैं, इस लिए यह व्यभिचारी हेतु है। व्यभिचारी को ही संदिग्ध वा अनैकान्तिक कहते हैं। क्योंकि यद्यपिसींगों वालीवहां गौ भी होसकती है,परयह आवश्यक नहीं, कि गौ ही हो, इस लिए यह संदिग्ध हेत्वाभास है।

सं-हेत्वाभास की विवेचना का फल दिखलाते हैं—

आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षा द्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १८ ॥

आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो उत्पन्न होता है, वह अन्य है।

व्या-आत्मा इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अप्रसिद्ध, असिद्ध और संदिग्ध इन तीनों हेत्वाभासों से भिन्न है, अतएव सद्धेतु है। अप्रसिद्ध इस लिए नहीं, कि ज्ञान गुण है, और गुण सदा द्रव्य के आश्रय रहता है, और ज्ञान का द्रव्य के आश्रय होना संदिग्ध भी नही, और ज्ञान का होना हरएक के अनुभव सिद्ध है, इसलिए असिद्ध भी नहीं।

सं-हो ज्ञान गुण से आत्मा का अनुमान, पर इस से अपने ही आत्मा का अनुमान हो सकता है, दूसरों में भी आत्मा है, इस का अनुमान कैसे हो, क्योंकि दूसरों का ज्ञान तो प्रत्यक्ष नहीं होता और प्रत्यक्ष के विना अनुमान नहीं होता, इस आशंका को मिटाते हुए कहते हैं—

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम् ॥ २० ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने आत्मा में देखे हुए दूसरे में लिङ्ग हैं।

व्या–हम जिस वस्तु को अपने अनुकूल जानते हैं, उस की ओर प्रवृत्त होते हैं, जैसे सेव की ओर प्रवृत्त होते हैं। और जिस को प्रतिकूल देखते हैं, उस से निवृत्त होते हैं, जैसे सर्प से निवृत्त होते हैं। इसी तरह दूसरे भी अपने अनुकूल में प्रवृत्त और प्रतिकूल से निवृत्त होते हैं, यहां तक कि कीड़ी भी मीठे की ओर जाती है, और आग से हट आती है। ठीक हमारी तरह ही उन में भी अनुकूल और प्रतिकूल में ही प्रवृत्ति निवृत्ति, उन में ज्ञान को सिद्ध करती है, और उस ज्ञान का आश्रय उन में भी आत्मा सिद्ध होता है।

तृतीय अध्याय, द्वितीय आह्निक।

सं–आत्मपरीक्षा को पूरा करने के लिए आत्मा के साधक और भी बहुत से हेतु देने हैं, उन में 'मन की गति' भी हेतुत्वेन कहनी है, पर जब मन ही सिद्ध नहीं है, तो मन की गति कैसे हेतु बन सके, इस लिए उद्देशक्रम को उलांघ कर मध्य में ही मन की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् ॥ १ ॥

आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होते हुए ज्ञान का होना और न होना मन का लिङ्ग है।

व्या–आत्मा का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी सारे ज्ञान इकट्ठे नहीं उत्पन्न होते, एक के पीछे दूसरा होता है, यह अनुभवसिद्ध है। रसानुभव के समय गन्धानुभव नहीं होता, दोनों का अनु-

भव एक होता, तो वह अनुभव शुद्धरसानुभव और शुद्धगन्धानुभव से विलक्षण ही कोई अनुभव होता, पर ऐसा कभी नहीं होता। इस से निश्चित है, कि एक अनुभव के हो चुकने पर ही दूसरा अनुभव होता है। एक अनुभव का विषय तो अनेक होते हैं, जैसे बहुत से शब्द इकट्ठे सुने जाते हैं, बहुत से रूप इकट्ठे देखे जाते हैं, पर अनुभव दो इकट्ठे नहीं होते, रसानुभव के अन्दर गन्धानुभव नहीं घुसता, न गन्धानुभव रसानुभव के अन्दर घुसता है। रसानुभव अलग अपने क्षण में, और गन्धानुभव अपने क्षण में होता है।

प्रश्न—लंबी पपड़ी के खाने में एक ही काल में रसना से उस का रस, त्वचा से स्पर्श, कानों से मुरक २ शब्द, नेत्रों से रूप और घ्राण से गन्ध अनुभव होता है। इस प्रकार पांचों अनुभव इकट्ठे होते हैं, फिर यह कैसे कह सकते हो, कि अनेक अनुभव एक साथ नहीं होते?

उत्तर—यहां भी जब रस आदि के अनुभव अलग २ हो रहे है, तो यह निश्चत है, कि वे हो भी अलग २ रहे हैं, एक साथ नहीं हो रहे। किन्तु अतीव सूक्ष्म काल का भेद होने से भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे पान के सौ पत्तों की तह जमा कर एक सूआ चुभो दें, तो ऐसा प्रतीत होगा, कि सारे पत्ते एक काल में विध गए हैं, पर वस्तुतः एक के विध जाने के पीछे ही दूसरा विधा है, और सवां निनावें विध जाने के पीछे विधा है, तौ भी एक काल में ही विधे प्रतीत होते हैं, क्योंकि अतीव सूक्ष्म काल निनावे वार भी इतना अत्यल्प वीता है, कि ध्यान में भी नहीं आता। इसी प्रकार वहां भी अतीव सूक्ष्म काल में

सारे अनुभव हो रहे हैं, पर हो एक के पीछे ही दूसरा रहा है, क्योंकि अनुभव जो अलग २ हो रहे हैं। सो यह निश्चित है, कि आत्मा इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान सारे इकट्ठे नहीं होते, एक अनुभव के समय दूसरे का अभाव होता है। अब प्रश्न यह है, कि यदि आत्मा इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध ही ज्ञान का कारण हो, तब सारे ज्ञान इकट्ठे क्यों न हो जायं, क्योंकि आत्मा का सम्बन्ध तो सारे इन्द्रियों के साथ है ही, रहा इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध, वह भी सब का सब के साथ है। इस प्रकार सब की सामग्री के विद्यमान होते हुए सारे ज्ञान इकट्ठे हो जाने चाहियें, पर होते नहीं, इस से सिद्ध है, कि आत्मा का सम्बन्ध सीधा इन्द्रियों के साथ नहीं होता, बीच में कोई और द्रव्य भी है, जो इधर आत्मा से और उधर इन्द्रियों से जुड़ता है, और वह एककाल में एक ही इन्द्रिय से जुड़ता है, इस लिए एक काल में दूसरा ज्ञान नहीं होता। उसी द्रव्य का नाम मन है, और वह एक काल में एक ही इन्द्रिय से जुड़ता है, इस लिए अणु है। इसी लिए पुरुष कहता है, कि मेरा मन दूसरी ओर था, इस से मैंने नहीं सुना, वा नहीं देखा। सो यह युगपत् ज्ञानों का न होना मन का लिङ्ग है। इसी प्रकार स्मृति आदि भी मन के लिङ्ग हैं, जैसे देखने सुनने आदि क्रिया का एक २ निमित्त है, वैसे सोचने विचारने आदि क्रिया का भी अवश्य कोई निमित्त है। वह निमित्त बाह्य इन्द्रिय तो हैं नहीं, इस से अवश्य कोई अन्तरिन्द्रिय उस का निमित्त है, वही मन है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

उसका द्रव्य होना और नित्य होना वायु से व्याख्यात है।

व्या-मन का आत्मा के साथ और इन्द्रियों के साथ संयोग होता है, अतएव संयोग गुण वाला होने से मन द्रव्य सिद्ध होता है, और किसी के आश्रित न होने से नित्य सिद्ध होता है।

सं-मन क्या प्रति शरीर एक है वा अनेक हैं, इस का उत्तर देते हैं।

प्रयत्नायौ गपद्याज्ज्ञाना यौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

प्रयत्नों के इकट्ठा न होने से और ज्ञानों के इकट्ठा न होनें से एक है।

व्या-यह अनुभव सिद्ध है, कि एक काल में शरीर में एक ही प्रयत्न होता है, यदि मन अनेक होते, तो जिस काल में मन के संयोग से एक अङ्ग में एक प्रयत्न होता, उसी समय दूसरे मन के संयोग से अंगान्तर में दूसरा विरुद्ध प्रयत्न हो जाता। इस से सिद्ध है, कि एक शरीर में एक ही मन है। इसी प्रकार अनेक ज्ञानों का युगपत् न होना भी मन की एकता का साधक है।

सं-अब मन की सिद्धि का आत्मा की सिद्धि में फल दिखलाते हुए आत्मसाधक और भी लिङ्ग कहते हैं—

प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि४

प्राण, अपान, मींचना, खोलना, जीवन, मन की गति,

दूसरे इन्द्रिय का विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी आत्मा के लिङ्ग है।

व्या-(१) वायु का स्वाभाव टेढा चलना है, पर शरीर में वायु नीचे और ऊपर चलता है, इस से सिद्ध है, कि इस वायु का चालक कोई और है, वही आत्मा है, जो धौंकनी से लुहार की नाई वायु को भरता और छोड़ता रहता है, (२) आंख पर बाहर से कोई प्रभाव पड़े विना भी जो आंख मिचती और खुलती रहती है, इस से सिद्ध है, कि पुतली के नाचने की नाई अन्दर बैठा ही कोई तार हिलाकर आंख को नचा रहा है, (३) जीवन=जीवन का कार्य वृद्धि आदि। जिस प्रकार घर का स्वामी घर को बढ़ाता है, और टूटे फूटे की मरम्मत करता है। इसी प्रकार इस शरीर की वृद्धि और क्षत का भरना इस बात के चिन्ह हैं, कि शरीर रूपी घर का भी एक अधिष्ठाता है, (४) जो विषय जानने की इच्छा हो, उसी इन्द्रिय में मन की गति इस बात का चिन्ह हैं, कि मन का प्रेरक आत्मा है, जैसे घर में बैठा बालक गेंद को अपनी इच्छानुसार इधर उधर फैंकता है, वैसे मन को अपनी इच्छानुसार जहां चाहता है, वहां भेजता है (५) दूसरे इन्द्रिय का विकार जैसे-इम्ली को देख कर उस के रस का स्मरण करके जिव्हा से लाल टपक पड़ती है। अब यदि नेत्र ही देखने वाला हो, तो यह लाल नहीं टपक सकती, क्योंकि नेत्र जो देख रहा है, उस को तो रस का पता ही नहीं, और रसना, जिस ने रस लिया हुआ है, वह देख ही नहीं रही, इस लिए ललचा नहीं सकती, पर ललचा गई है, इस से स्पष्ट है, कि नेत्र और रसना दोनों से

परे एक आत्मा है, जिस ने पहले रसना द्वारा उस का रस अनुभव किया हुआ है, और अब उस के रूप को देखकर उस के रस का स्मरण आ गया है, वही ललचाया है, उसी के ललचाने से मुंह में पानी भर आया है (४) सुख, दुःख, इच्छा द्वेष और प्रयत्न यह भी ज्ञान की नाईं आत्मा के लिङ्ग है। क्योंकि ये गुण विशेष भी शरीर में कारण गुणपूर्वक नहीं आए, इस लिए अवश्य ये धर्म शरीर में वस्त्र में पुष्पगन्ध की नाईं किसी द्रव्यान्तर के ही प्रतीत होते है, वही द्रव्यान्तर आत्मा है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।५।

उस का द्रव्य और नित्य होना वायु से व्याख्यात है।

सं-इस अनुमित द्रव्य का नाम करण भी वायुवत् दिखलाते हैं (देखो पूर्व २।१।१५-१७)

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंगं न विद्यते ॥ ६ ॥

(पूर्वपक्ष-) सम्बन्ध होने पर यह यज्ञ दत्त है (यज्ञ दत्त का आत्मा है) इस प्रकार प्रत्यक्ष न होने से (आत्मा की सिद्धि में) दृष्ट लिङ्ग नहीं है।

सामान्यतो दृष्टाच्चा विशेषः ॥ ७ ॥

और सामान्यतो दृष्ट (लिङ्ग) से अविशेष सिद्ध होता है, (कि ज्ञान आदि का आश्रय कोई द्रव्य है, न कि आत्मा है)

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

इस लिए (आत्मा का विशेष रूप) आगम सिद्ध है।

सं–इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ।९।

'अहं' इस शब्द का अप्रयोग होने से आगम मात्र सिद्ध नहीं है ।

व्या–आत्मा का विशेषरूप केवल आगमसिद्ध नहीं । क्योंकि 'अहं=मैं' इस शब्द का आत्म भिन्न द्रव्यों में प्रयोग नहीं । 'यह पृथिवी' 'यह जल' कहते हैं, 'मैं पृथिवी, मैं जल' कोई नहीं कहता । इस से सिद्ध है, कि 'मैं' का विषय पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न पदार्थ है । [और 'मैं' हर एक के प्रत्यक्षानुवभ सिद्ध है ।

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति १०

यदि ज्ञान प्रत्यक्ष है, मैं देवदत्त मैं यज्ञदत्त यह

व्या–(पूर्वपक्षी) यदि 'मैं देवदत्त हूं' 'मैं यज्ञदत्त हूं' इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष है, तो फिर अनुमान की क्या आवश्यकता है । कहते ही हैं 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' । हाथी जब प्रत्यक्ष सामने खड़ा है, तो उस की चिंघाड़ से लोग उस का अनुमान नहीं किया करते ।

दृष्ट आत्मनि लिंग एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

प्रत्यक्ष आत्मा में लिङ्ग होने पर दृढ़ होने से प्रत्यक्ष की नाई एक ही प्रतीति होती है ।

व्या–(सिद्धान्ती) 'अहं' इस प्रतीति से आत्मा के प्रत्यक्ष होने पर

भी वह शरीर से अलग है, इस में अप्रामाण्य शंका बनी रहती है, जब ज्ञानादि लिङ्ग द्वारा शरीर से अलग आत्मा का अनुमान होता है, तब प्रत्यक्ष की अप्रामाण्य शंका दूर हो कर वह प्रतीति दृढ़ हो जाती हैं। जैसे अन्यत्र प्रत्यक्ष में देखा जाता है, कि जब दूर से जल को प्रत्यक्ष देखकर अप्रामाण्य शंका उठे, कि कदाचित् मृगतृष्णा ही न हो, तब बगले आदि लिङ्ग को देखकर जल का अनुमान होने पर इस संवादी प्रमाण से पहले ज्ञान में प्रामाण्यज्ञान हो जाने से वह शंका मिट जाती है। इसी प्रकार आत्म प्रत्यक्ष में भी उलटी संभावना (कि शरीर ही आत्मा न हो) से उस ज्ञान में अप्रामाण्य शंका होती है, तब अनुमान से उसी का ज्ञान होने पर, इस संवादि प्रमाण से वह ज्ञान दृढ़ हो जाता है। ऐसे स्थल में, जहां अनुमान के विना प्रत्यक्ष दृढ़ निश्चय न कराए, प्रत्यक्ष के होते हुए भी अनुमान आवश्यक होता है, अतएव वाचस्पति मिश्र लिखते हैं–'प्रत्यक्ष परिकलित मप्यनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः' प्रत्यक्ष से जाने हुए को भी तर्क के रसिक अनुमान से जानना चाहते हैं।

सं–'मैं देवदत्त हूं' यह प्रतीति यदि आत्मविषयक है, 'तो देवदत्त जाता है' यह प्रतीति और व्यवहार कैसे बनेगा, क्योंकि दूसरे तो उस के शरीर को ही गतिमान् देखते है, इस आशंका का उत्तर देते हैं—

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है, 'यह उपचार (लक्षणा) से शरीर में प्रतीति होती है (मुख्य प्रतीति देवदत्त पद की

आत्मा में ही है, क्योंकि देवदत्त जानता है, इच्छा करता है, द्वेष करता है, इत्यादि व्यवहार में देवदत्त शब्द का मुख्य विषय-आत्मविशेष ही है।

संदिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥

संदिग्ध है उपचार तो

व्या- पूर्वपक्षी) जब 'देवदत्त' वा 'मैं' शब्द का शरीर और आत्मा दोनों में प्रयोग होता है, तो यह संदिग्ध है, कि आत्मा में मुख्य प्रयोग है, और शरीर में उपचार है, वा शरीर में मुख्य है और आत्मा में उपचार है। विनिगमना के अभाव से एक निर्णय नहीं हो सकता है।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

'अहं' यह (प्रतीति) अन्तरात्मा में होने से और दूसरे में न होने से भिन्न वस्तु के प्रत्यक्ष वाली है।

व्या-'मैं' इस प्रतीति से शरीर का प्रत्यक्ष नहीं किन्तु शरीर से भिन्न जो आत्मा है, उस का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'मैं' यह प्रतीति अन्तरात्मा में होती है, दूसरे में नहीं होती। यदि 'मैं' का विषय शरीर होता, तो मैं' का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से होता, पर 'मैं' का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से नहीं, मन से होता है, इसी लिए दूसरे के विषय में 'मैं' यह ज्ञान नहीं होता। सो मैं' का विषय जब आत्मा है, तो 'मैं जानता हूं,' इच्छा करता हूं, यत्न करता हूं, द्वेष करता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इत्यादि प्रयोग मुख्य हैं, और 'मैं देवदत्त' हूं इत्यादि प्रतीति से देवदत्त

आदि शब्द भी आत्म विशेष में मुख्य हैं। शरीर में औपचारिक हैं।

देवदत्तोगच्छतीत्युप चारादभिमाना त्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥ १५ ॥

'देवदत्त जाता है' यह उपचार से (कहना) अभिमान से है, क्योंकि शरीर को प्रत्यक्ष कराने वाला है अहङ्कार।

व्या-(पूर्वपक्षी फिर आशंका करता है)-'देवदत्त जाता है' यह तुम्हारा औपचारिक कहना अभिमानमात्र है वास्तव नहीं, क्योंकि 'मैं गोरा हूं, मैं स्थूल हूं' इत्यादि शरीरविषयक ही अधिकतर प्रयोगों से निश्चय होता है, कि अहं प्रतीति शरीर को प्रत्यक्ष कराती है।

संदिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

संदिग्ध है उपचार

व्या-(सिद्धान्ती) क्या 'देवदत्त जाता है' यहां उपचार है, वा 'देवदत्त सुखी है' यहां उपचार है। यह प्रयोग की दृष्टि से तो संग्दिध ही है, क्योंकि शरीर और आत्मा दोनों के लिए एक जैसा ही प्रयोग होता है।

नतु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्त विष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ १७ ॥

किन्तु शरीर के भेद से यज्ञदत्त और विष्णु मित्र का ज्ञान विषय नहीं होता।

व्या-शरीर के साक्षात्कार में यज्ञदत्त और विष्णुमित्र का ज्ञान विषय नहीं होता। सो जैसे हमे आत्म साक्षात्कार में ज्ञान

प्रत्यक्ष होता है 'मैं जानता हूं' ऐसे ही सुख आदि भी प्रत्यक्ष होते हैं 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' 'मैं इच्छा करता हूं', 'मैं यत्न करता हूं'। ऐसे ही शरीर के प्रत्यक्ष में भी ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष हो, यदि शरीर ज्ञानादि गुण वाला हो और अहं प्रतीति का विषय हो। 'मैं जो स्थूल हूं, वह मैं जानता हूं' ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती किन्तु केवल ज्ञानादि के प्रत्यक्ष में केवल अहं प्रतीति ही होती है, इस लिए 'अहं' प्रतीति का मुख्य विषय आत्मा ही है, अतएव शरीर में ही अहं प्रयोग औपचारिक है।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेका व्यभिचाराद् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

'अहं' यह मुख्य और योग्य होने से शब्द की नाईं अभाव के अव्यभिचार, से विशेष की सिद्धि होने से केवल आगम सिद्ध नहीं।

व्या-(उपसंहार करते हैं-) सो 'अहं' इस प्रतीति का मुख्य विषय आत्मा ही है, वही इस प्रतीति के योग्य है, क्योंकि जिस ने आंख मींची हुई है, उस को भी 'अहं' प्रतीति होती है। अतएव 'अहं' वह है, जो आंख का विषय नहीं। सो एक तो 'अहं' इस प्रतीति से आत्मा की विशेष सिद्धि से, और दूसरा जैसे पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में शब्द का अभाव अव्यभिचारी (नियत) है, इस लिए आठ द्रव्यों से अतिरिक्त आकाश की सिद्धि होती है, इसी प्रकार, अहं प्रतीति का अभाव आठ द्रव्यों में अव्यभिचारी होने से आठ द्रव्यों से अतिरिक्त आत्मा की

सिद्धि होने से, आत्मा केवल आगमसिद्ध नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभव का विषय है।

सं-आत्मसिद्धि के प्रकरण को समाप्त करके, अब आत्मनानात्व की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१९॥

सुख दुःख ज्ञान की उत्पत्ति के समान होने से एक आत्मा है

व्या-(शंका) जैसे शब्द लिङ्ग के अविशेष होने से आकाश एक माना है, और जैसे 'युगपत्' आदि प्रतीति के अविशेष होने से काल एक माना है और परे वरे आदि प्रतीति के अविशेष होने से दिशा एक मानी है, वैसे ही सुख दुःख ज्ञान आदि की उत्पत्ति भी सर्वत्र अविशेष होने से आत्मा भी एक ही सिद्ध होता है।

व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥

व्यवस्था से नाना हैं।

व्या-चैत्र के सुख दुःख और ज्ञान को मैत्र अनुभव नहीं करता, यह व्यवस्था तभी घट सकती है जब चैत्र का आत्मा मैत्र से अलग हो, यदि दोनों का आत्मा एक हो, तो चैत्र का सुख आदि मैत्र को अनुभव होना चाहिये क्योंकि अनुभविता आत्मा है; और वह दोनों में एक है, इसी प्रकार चैत्र के सुख कालमें मैत्र दुःखी, और ज्ञान काल में मैत्र वे सुध होता है। पर एक काल में एक वस्तु में परस्पर दो विरोधी गुण उत्पन्न हो नहीं सकते। यह व्यवस्था तभी घट सकती है, जब आत्मा नाना हों, सो एकता की बाधक व्यवस्था के विद्यमान होने से आत्मा का नानात्व युक्तियुक्त है।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

शास्त्र सामर्थ्य से भी (नाना हैं)

व्या–' यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ' मुक्त पुरुष अमृत का उपभोग करते हुए जिस तृतीय-धाम (परमात्मा) में स्वच्छन्द विचरते हैं ॥ यह मुक्त आत्माओं के विषय में बहु वचन इस बात का लिङ्ग है, कि आत्मा नाना है। सामर्थ्य लिङ्ग को कहते हैं। और जीव ईश्वर का भेद तो ' द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ' इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है।

चतुर्थ अध्याय–प्रथम आह्निक।

सं–लक्षण प्रमाण से द्रव्यों की सिद्धि करके, अब उनके विषय में कुछ और विचार चलाते हैं–

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

सत् हो और कारण वाला न हो, वह नित्य होता है।

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ २ ॥

(यह) कार्य उस का लिङ्ग है (क्योंकि)

कारणभावात् कार्यभावः ॥ ३ ॥

कारण के होने से कार्य होता है।

व्या–यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि कार्य कारण के बिना नहीं होता। इस लिए यह जगत्रूप कार्य भी अपने कारण का अनुमापक है। और हरएक स्थूल द्रव्य अनेक सूक्ष्म अवयवों से बनता है। इस प्रकार इस स्थूल जगत् के वे सूक्ष्म अवयव,

जो मूल कारण हैं, वे सत् हैं और कारण वाले नहीं, इस लिए नित्य हैं, और परम सूक्ष्म हैं, इस लिए परमाणु कहलाते हैं। सो पृथिवी, जल, तेज और वायु तो स्थूल भी हैं, इस लिए इन के तो परमाणु ही नित्य हैं, पर आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन नित्य ही हैं, यह पूर्व दिखला चुके हैं।

सं-सब अनित्य ही है, नित्य कुछ भी नहीं, ऐसा मानने वाले को उत्तर देते हैं—

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

'अनित्य' ऐसा प्रतिषेधभाव विशेषरूप से हो सकता है, (कि पृथिवी अनित्य है,वा सूर्य अनित्य है' इत्यादि। पर सामान्य रूप से निषेध हो ही नहीं सकता, कि सब अनित्य हैं। क्योंकि अनित्य का प्रतियोगी जो नित्य है, वह यदि सिद्ध है, तो उस का अपलाप हो नहीं सकता, और यदि असिद्ध है, तो अनित्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभाव का निरूपण प्रतियोगी के विना हो ही नहीं सकता।

सं-प्रश्न-हम लोक में जितनी वस्तुएं आकार वाली, रूप वाली, रस वाली, वा स्पर्श वाली देखते हैं, वे सब अनित्य है, परमाणु भी इन धर्मों वाले हैं, इस लिए अनित्य होने चाहियें, इत्यादि का उत्तर देते हैं—

अविद्या ॥ ५ ॥

अविद्या है (अर्थात् परमाणु के अनित्य होने का अनुमान अविद्या है, क्योंकि आकार वाला होना इत्यादि हेतु हेत्वाभास हैं। क्योंकि वस्तु का नाश आकार वा रूप रस आदि के कारण नहीं होता। यदि ये नाश के कारण होते, तो कभी

कोई वस्तु ठहरती ही न, किन्तु नाश होता है अवयवों के विभाग से। सो जब परमाणु के अवयव ही नहीं, तो अवयवविभाग हो ही नहीं सकता।

सं-परमाणु है, तो उस का नेत्र से प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता इस का उत्तर देते है—

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

महत्व में, अनेक द्रव्यों वाला होने से और रूप से प्रत्यक्ष होता है (प्रत्यक्ष वह वस्तु होती है, जो अनेक द्रव्यों के संयोग से महत्व वस्तु बन गई हो, और उस में रूप भी हो। पृथिवी जल तेज के परमाणु रूप वाले हैं, पर वे एक निरवयव द्रव्य हैं, अतएव महत्व नहीं, परम सूक्ष्म हैं, इसी लिए उन का प्रत्यक्ष नहीं होता, और)।

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

द्रव्यत्व और महत्त्व के होते हुए भी रूप का सम्बन्ध न होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता।

सं-द्रव्य के प्रत्यक्ष के अनन्तर गुणों के प्रत्यक्ष के कारण भी दिखलाते हैं—

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अनेक द्रव्य वाले में समवेत होने से और रूप विशेष से रूप का प्रत्यक्ष होता है।

क्या-उस रूप का प्रत्यक्ष होता है, जो अनेक द्रव्य वाले

अर्थात् अनेक अवयवों से बने हुए द्रव्य में समवेत हो, और हो भी रूप विशेष अर्थात् उद्भूत रूप हो । परमाणु के रूप का प्रत्यक्ष इस लिए नहीं होता, कि वह अनेक द्रव्य वाले में नहीं, और दृष्टि का रूप इस लिए प्रत्यक्ष नहीं होता, कि वह उद्भूत (प्रकट) नहीं ।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥९॥

इस से (रूप प्रत्यक्ष में हेतु कथन से) रस गन्ध स्पर्श में प्रत्यक्ष व्याख्या किया गया ।

व्या—जैसे अनेक द्रव्य वाले में समवेत रूप विशेष का प्रत्यक्ष होता है, वैसे अनेक द्रव्य वाले में समवेत रस विशेष, गन्ध विशेष और स्पर्श विशेष का प्रत्यक्ष होता है ।

सं—पत्थर में रस गन्ध का और चांदनी में स्पर्श का प्रत्यक्ष न होने से पूर्वोक्त कार्य कारण भाव का व्यभिचार होगा, इस का उत्तर देते हैं—

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

इस के न होने से अव्यभिचार है (पत्थर में जो रस और गन्ध है, वे उद्भूत नहीं, और चांदनी में जो स्पर्श है, वह उद्भूत नहीं, इस लिए व्यभिचार नहीं)

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ११

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और कर्म ये रूप वाले द्रव्यों में समवेत हों, तो चाक्षुष होते हैं ।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

रूप रहितों में चाक्षुष नहीं होते हैं।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

इस से गुणत्व और सत्ता में सर्वेन्द्रिय ज्ञान व्याख्या किया गया है।

व्या—जिस इन्द्रिय से जो व्यक्ति जानी जाती है, उसी से उस की जाति भी जानी जाती है। सो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये गुण जब पांचों इन्द्रियों से जाने जाते हैं, तो इन में रहने वाली गुणत्व जाति और सत्ता जाति भी सर्वेन्द्रिय ग्राह्य है।

चतुर्थ अध्याय—द्वितीय आह्निक।

संगति—कारण द्रव्य की परीक्षा की गई, अब कार्य द्रव्य की परीक्षा करते हैं—

तत्पुनः कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय विषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

वह (पृथिवी आदि) कार्य द्रव्य तीन प्रकार का है, शरीर इन्द्रिय और विषय नाम वाला (मनुष्य आदि शरीर हैं, नेत्र आदि इन्द्रिय हैं, इन दोनों से भिन्न हरएक वस्तु विषय कहलाती है। विषय सब भोग्य हैं, इन्द्रिय भोग का साधन हैं, और शरीर वह है, जिस में बैठा हुआ आत्मा भोगता है)।

सं—इस कार्यद्रव्य को क्या मिलकर पांचों भूत आरम्भ करते हैं, वा अलग २? इस की विवेचना करते हैं—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्या प्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के संयोग को अप्रत्यक्ष होने से पञ्चात्मक नहीं है।

व्या-प्रत्यक्ष द्रव्यों का संयोग प्रत्यक्ष होता है, जैसे वृक्ष और पक्षी का संयोग। पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संयोग प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे वृक्ष और वायु का संयोग। अब पांच भूतों में से पृथिवी, जल, तेज ये तीन प्रत्यक्ष हैं, वायु और आकाश ये दो अप्रत्यक्ष हैं। सो शरीर यदि इन पांचों के संयोग से उत्पन्न होता, तो प्रत्यक्ष न होता, पर प्रत्यक्ष होता है, इस से निश्चित है, कि पञ्चात्मक नहीं है, और इसी युक्ति से चतुरात्मक भी नहीं। रहा त्र्यात्मक सो—

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥३॥

विलक्षण गुणों के प्रकट न होने से त्र्यात्मक भी नहीं है (यदि तीनों द्रव्यों के रासायनिक मेल से कार्य द्रव्य आरम्भ होते, तो इन में तीनों से विलक्षण गुण उत्पन्न होते, जैसे हरिद्रा और चूने के रासायनिक मेल से लालरङ्ग उत्पन्न होता है। पर शरीर और पृथिवी आदि विषयों में पृथिवी आदि से विलक्षण गुण नहीं पाये जाते, इस से सिद्ध है, कि ये त्र्यात्मक नहीं, और इसी रीति से द्व्यात्मक भी नहीं। किन्तु एक ही भूत से आरब्ध हैं।

सं-जब एकात्मक ही हैं, तो शरीर में गन्ध, गीलापन और गर्मी ये तीनों के अलग २ गुण कैसे अनुभव होते है, इस का उत्तर देते हैं—

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥

किन्तु अणुओं का संयोग निषिद्ध नहीं है।

व्या–दूसरे द्रव्यों के अणुओं के संयोग का हम निषेध नहीं करते, किन्तु रासायनिक मेल का निषेध करते हैं। जैसे घड़ा मट्टी का ही कार्य है, पर उस के बनने में जल भी सहकारी होता है। इसी प्रकार शरीर है तो निरा पार्थिव, पर उस की रचना में, न केवल रचना में, किन्तु स्थिति में भी जल तेज वायु आकाश सहकारी हैं। इसी लिए इन के धर्म भी शरीर में पाये जाते हैं। और मृतक शरीर के सर्वथा सूख जाने पर, केवल पार्थिव अंश के ही रह जाने पर भी, शरीरत्वेन जाना जाता है, इस लिए एक भौतिक है।

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

इन में से (शरीर, इन्द्रिय, विषय में से) शरीर दो प्रकार का है, योनिज (माता पिता से उत्पत्ति वाला) और अयोनिज (बिना माता पिता के उत्पत्ति वाला)।

सं–अयोनिज शरीरों में प्रमाण दिखलाते हैं—

अनियतदिग्देश पूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥

(हैं अयोनिज) क्योंकि जिन का दिशा देश कोई नियत नहीं, उन (अणुओं) के अधीन इनकी उत्पत्ति है (शरीर के उत्पादक अणु जैसे शुक्र शोणित में हैं, वैसे आदि में बिना माता पिता के मिल जाते हैं। तत्त्वों का संयोग विशेष ही तो शरीर का कारण है, वह जैसे अब माता पिता के शरीर में होता है, वैसे आदि में ठीक वैसा ही संयोग विशेष भूमितल पर ही हो जाता है। सो जैसे इन अणुओं की दिशा नियत नहीं, वैसे देश भी नियत नहीं कि शरीर में ही हो और शरीर से बाहर न हो।

धर्मविशेषाच्च ॥ ७ ॥

और धर्म विशेष से (हैं अयोनिज)।

व्या-आदि में उत्पन्न होने वालों का धर्म इतना उच्च कोटि का होता है, कि वे योनि में प्रवेश किये बिना जगत में प्रवेश करते हैं।

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥

अन्वर्थ नामों के होने से (जैसे ब्रह्मा का नाम स्वयम्भू है। योनिज होता, तो स्वयम्भू नाम न होता)।

संज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ ॥

संज्ञा के आदि होने से और (यह संज्ञा आदि से चली आती है, इस लिए कल्पित नहीं)

सं-सो इन हेतुओं से निश्चित है कि—

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥

हैं अयोनिज (शरीर)

सं-अति दृढ़ता के लिए वेद का प्रमाण भी दिखलाते हैं—

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥

वेद के सामर्थ्य से भी (हैं अयोनिज)

चाक्लृप्रे तेनऋषयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे। (ऋग्० १० । १३० । ६)

उस सनातन (सृष्टि-) यज्ञ के प्रवृत्त होने पर उस ने ऋषि और मनुष्य रचे, जो हमारे पितर हैं। यह आदि में माता

पिता के अभाव में ऋषि मनुष्यों की उत्पत्ति का कथन अयोनिज उत्पत्ति का ज्ञापक है ।

पञ्चम अध्याय—प्रथम आह्निक ।

संगति—द्रव्यों की परीक्षा की, अब क्रमागत गुण परीक्षणीय हैं, किन्तु अल्प होने से पहले कर्मों की परीक्षा आरम्भ करते हुए प्रयत्न जन्य उत्क्षेपण को लक्ष्य करके कहते है—

आत्मसंयोग प्रयत्नाभ्यां हस्तेकर्म ॥ १ ॥

आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ में कर्म (होता है)

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

और वैसे (कर्म वाले) हाथ के संयोग से मूसल में कर्म (होता है)।

व्या—प्रयत्न आदि की उत्पत्ति का क्रम यह है ' आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः । कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत् ' आत्मा में इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा से प्रयत्न उत्पन्न होता है, प्रयत्न से (सारे शरीर में वा किसी एक अङ्ग में) चेष्टा उत्पन्न होती है, चेष्टा से क्रिया उत्पन्न होती है। यहां प्रकृत में पहले आत्मा में मूसल उठाने की इच्छा उत्पन्न हुई, उस इच्छा से आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न हुआ। उस प्रयत्न वाले आत्मा के संयोग से हाथ में (ऊपर की ओर) चेष्टा उत्पन्न हुई, उस चेष्टा से मूसल में (उत्क्षेपण) क्रिया उत्पन्न हुई। इसी क्रम से नीचे लाते समय (अवक्षेपण) क्रिया उत्पन्न होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकाद् कारणं हस्त संयोगः ॥ ३ ॥

अभिघात से उत्पन्न हुआ जो मूसल आदि में कर्म है (उछलना है) उस कर्म में हाथ का संयोग कारण नहीं। कारण व्यतिरेक से (जब पुरुष मूसल को वेग से ऊपर उठाकर ऊखल में मार कर छोड़ देता है, तब भी वह ऊखल से चोट खाकर उछलता है, इस लिए उस उछलने में अभिघात निमित्त है, न कि हस्त संयोग, और न ही प्रयत्न)

तथाऽऽत्मसंयोगः हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

वैसे (अकारण है) आत्मा का संयोग हाथ के कर्म में (वहां मूसल के साथ हाथ का ऊपर उठना भी प्रयत्न वाले आत्मा के संयोग से नहीं हुआ, किन्तु–)

अभिघातान्मुसल संयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

मूसल के संयोग से (हाथ में भी) अभिघात से (विवश) हाथ में कर्म होता है।

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

शरीर में कर्म होता है। हाथ के संयोग से।

व्या–उस समय सारा ही शरीर जो हिल जाता है, वह हाथ के संयोग से होता है। वह शरीर में कर्म भी आत्म संयोग से नहीं हुआ। वह ऐसा ही कर्म है, जैसे भरी गागर के भार के वेग से उलटी घूमती हुई चरखड़ी को दृढ़ पकड़े रखने के कारण एक बालक सारा ही नीचे से उठ कर चरखड़ी के ऊपर से हो कर कुंएं में जा पड़ा था।

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

संयोग के अभाव में गुरुत्व से पतन होता है।

व्या–गुरुत्व वस्तु के पतन का कारण होता है, और विधारक संयोग पतन का प्रतिबन्धक होता है। पत्थर पहाड़ की चोटी पर टिका हुआ है, क्योंकि चोटी उस को धारे हुए है, चोटी से उठा कर खड्ड में छोड़ दिया जाता है, तो नीचे जा गिरता है। वहां उस के पतन का कारण गुरुत्व है। फल आकाश में लटका हुआ है, क्योंकि डंडी का संयोग उस को थामे हुए है, संयोग के नाश होते ही गुरुत्व से नीचे आ पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य भी वृक्ष की डाली के टूटते ही नीचे आ गिरता है। इस पतन में मनुष्य का भी गुरुत्व कारण है, न कि प्रयत्न। हां स्वयं उतरने में प्रयत्न कारण होता है। इसी प्रकार ऊपर उठा कर छोड़ी वस्तु के गिरने में गुरुत्व कारण है, किन्तु पकड़े हुए नीचे लाने में प्रयत्न कारण है। मूसल के भी अभिघात से ऊपर उछलने की हद तक अभिघात कारण है, और उसी हद से अपने आप गिरने में गुरुत्व कारण है। पर उस हद से ऊंचा ले जाने और फिर नीचे लाने में प्रयत्न कारण है। और दोनों निमित्त इकट्ठे भी हो जाते हैं। नीचे लाने में सदा गुरुत्व और प्रयत्न दो निमित्त होते हैं, इसी लिए नीचे आसानी से आता है, ऊपर उठाने में भी पहली वार केवल प्रयत्न कारण होता है, इस लिए अधिक वल लगता है। दूसरी वार अभिघात और प्रयत्न दोनों मिल जाते हैं, इस लिए न्यून वल से उतना ही उठ जाता है। हां अधिक देरी में थकावट प्रयत्न को ढीला कर देती है।

सं–गुरुत्व से पतन ही क्यों होता है ढेले की नाईं ऊपर जाना वा बाण की नाईं आड़ा जाना क्यों नहीं होता? इस का उत्तर देते हैं—

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ८

नोदन विशेष के अभाव से न ऊपर न तिरछा जाना होता है॥

नोदन=धकेलने वाला संयोग। वस्तु को आगे धकेलने वाला नोदन एक भिन्न प्रकार का होता है, और ऊपर धकेलने वाला भिन्न प्रकार का। सो गुरुत्व वाली वस्तु नोदन विशेष से ऊपर जाती है, और नोदन विशेष से आड़ी जाती है, विना नोदन के गुरुत्व से नीचे गिरती है। सो गुरुत्व पतन का कारण है नोदन विशेष उस से विपरीत ऊपर वा आड़ा ले जाता है।

प्रयत्नविशेषान्नोदन विशेषः॥ ९॥

नोदन विशेषादुदसनविशेषः॥ १०॥

(आत्मा में उत्पन्न हुए) प्रयत्न के भेद से नोदन में भेद होता है॥ ९॥ फिर नोदन के भेद से फेंकने में (ऊपर, नीचे दूर, दूर तर फेंकने में) भेद होता है।

सं—गोद में स्थित बालक का नीचे ऊपर आगे पीछे हाथ पाओं चलाना कैसे होता है; क्योंकि न तो वह इच्छा पूर्वक हाथ पाओं को चलाता है, और न ही वहां कोई नोदन है, इस का उत्तर देते हैं—

हस्तकर्मणा दारकर्म व्याख्यातम्॥ ११॥

हाथ के कर्म से बच्चे का कर्म व्याख्या किया गया।

व्या—जैसे मूसल के संयोग मे हाथ विना इच्छा के ऊपर उठता है, वैसे भीतरी वेग वाले वायु के संयोग से बच्चे के हाथ पैर आदि चलते रहते हैं।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

जैसे दग्ध हुए (अङ्ग) के उभरने में प्रयत्न हेतु नहीं, किन्तु वेग वाले अग्नि का संयोग हेतु है जैसे दग्ध हुई वस्तु के फूटने अर्थात् टुकड़ों के उड़ने में अग्नि संयोग कारण होता है)

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

यत्न के अभाव में मूर्छित का चलना होता है मूर्छित के जो हाथ पाओं आदि चलते हैं वे भी बिना प्रयत्न के वायु विशेष के संयोग से ही चलते हैं)

सं-शरीर के कर्मों की व्याख्या करके, उस से भिन्न कर्मों की व्याख्या करते है—

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

(वायु में उड़ते हुए तृण में कर्म वायु के संयोग से होता है

मणिगमनं सूच्यभिसर्पण मित्यदृष्ट कारणकम् ॥ १५ ॥

(तृणों का-तृणकान्त-) मणि की ओर चलना, और सूई का (चुम्बक की ओर) चलना, ये अदृष्ट कारण वाले हैं (अर्थात् अन्यत्र गति में जो प्रयत्न और नोदन कारण देखे हैं, उन में से कोई कारण नहीं, यहां वस्तु शक्ति ही ऐसी है, जो उस २ से वह २ वस्तु खींची जाती है)

इषा वयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः १६

वाण में न एक साथ (अर्थात् क्रम २ से) उत्पन्न हुए जो संयोग विशेष हैं, वे कर्म के नाना होने में हेतु हैं ॥ (धनुष

से छूटा हुआ वाण जब चलता है, तो गिरने तक पद २ पर उस को नए २ स्थान का संयोग होता जाता है । इस प्रकार गिरने तक कई संयोग हो जाते हैं, हरएक संयोग से पूर्वला कर्म नाश हो जाता है. इस से सिद्ध है, कि गिरने तक एक कर्म नहीं, कई कर्म हुए हैं । वे इस प्रकार कि—

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥ १७ ॥

नोदन से वाण का प्रथम कर्म होता है. उस कर्म से उत्पन्न किये गए संस्कार (वेग) से अगला (कर्म होता है) वैसे अगला २ होता जाता है ।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

संस्कार के अभाव में (अर्थात संस्कार मन्द २ होता हुआ जब क्षीण हो जाता है, तब) गुरुत्व से पतन होता है ।

पञ्चम अध्याय—द्वितीय आह्निक ।

सं—नोदनादि के अधीन कर्मों की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म १

नोदन से, अभिघात से और संयुक्त संयोग से पृथिवी में कर्म होता है ।

व्या—धकेलने वाले संयोग को नोदन कहते है । यदि वह चोट दे, तो उस को अभिघात कहते हैं । दोनों प्रकार के संयोग से पृथिवी में कर्म होता है । जैसे वाण में नोदन से कर्म होता है । और गोले के लगने से जो वस्तु उड जाती है, उस में

अभिघात से होता है । तथा संयुक्त संयोग से भी होता है । जैसे चलते हुए घोडे में संयुक्त रस्से में, रस्से से संयुक्त रथ में कर्म होता है। रथ के साथ दूसरा रथ बांध दें, तो उस में भी होता है।

तद्विशेषेणाऽदृष्टकारितम् ॥ २ ॥

वह विशेष से अदृष्ट से कराया होता है ।

व्या–वह पृथिवी कर्म जब कभी भूचाल आदि विशेषरूप में उत्पन्न होता है, तो वह पृथिवी के भीतर जो अदृष्ट वस्तुएं (अग्नि आदि) हैं, उन के नोदन वा अभिघात वा संयुक्त संयोग से होता है ।

संगति–पृथिवी के अनन्तर जल के कर्म की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

(मेघस्थ) जलों का (विधारक–) संयोग के अभाव में गुरुत्व से पतन होता है (जब जल कण इकट्ठे होने से इतने गुरु हो जाते हैं कि वायु उन को थाम नहीं सकता, तो गुरुत्व के कारण वे नीचे गिर पड़ते हैं, यही वर्सना है)

द्रवत्वात्स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

द्रवत्व से बहना होता है (जब पृथिवी पर गिरे हुए जल जो बहने लगते हैं, इस में द्रवत्व हेतु है)

नाड्योवायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

किरणें वायु के संयोग से (जलों का आकाश में) आरोहण (कराती हैं । वही जल फिर वर्षा रूप में गिरते हैं).

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

नोदन के प्रबल वेग से संयुक्त संयोग से

व्या-किरणों का जल को धक्केलने का जो प्रबल वेग है, उस वेग से, और किरण संयुक्त उष्ण वायु के संयोग से जलों का आरोहण होता है। जैसे अग्नि पर धरी बटलोई के जल तेज के प्रबल नोदन से और तेज संयुक्त वायु के संयोग से ऊपर चढ़ते हैं।

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

वृक्ष के सब ओर चलना अदृष्ट से कराया जाता है।

व्या-वृक्ष के मूल में सिंचे हुए जल वृक्ष की जड़ों तने डाल डाली पत्तों में फैलते हैं, जिस से वृक्ष की पुष्टि होती है। यह उन का फैलना-वृक्ष में जो मूल से लेकर पत्तों तक सूक्ष्म नाडियां हैं, इस अदृष्ट शक्ति से उन में रस का आकर्षण होता है, इस से वृक्ष जीता रहता है।

अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात् ।८।

जलों का जमना और पिघलना तेज के संयोग से।

व्या-ये जो ओले वा बर्फ गिरती है, और गिरी हुई फिर पिघलती है, यह तेज के संयोग विशेष से होता है। एक विशेष मात्रा में जब तेज का संयोग रह जाता है तब जल जम जाते हैं, यह तेज बहुत थोड़ा होता है, अतएव ओले और बर्फ जल से अधिक शीतल होते हैं। उस में बाहर से और अधिक तेज के प्रवेश करने से ओले और बर्फ पिघल कर जल बन जाते हैं, अतएव जल उतना ठंडा नहीं रहता है।

सं-ओले और बर्फ में भी तेज शेष रहता है, इस में क्या प्रमाण है, इस अकांक्षा के होने पर कहते हैं—

तत्र विस्फूर्जथुर्लिंगम् ॥ ९ ॥

उस में कड़क लिङ्ग है।

व्या-ओले प्रायः कड़कने के पीछे बरसते हैं। कड़कना बिना रगड़ के नहीं होता, और रगड़ बिना तेज के नहीं होती, इस से सिद्ध है, कि तेजः संयोग वहां भी है।

वैदिकं च ॥ १० ॥

और वैदिक लिङ्ग भी है ('अग्ने गर्भो अपामसि' यजु० १२। ३७) हे अग्ने तू जलों के भीतर है)

अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

जलों के संयोग और विभाग से बिजली के (शब्द की उत्पत्ति संयोग और विभाग से होती है, यही कारण कड़क की उत्पत्ति में हो सकता है। सो मेघ में कड़क की उत्पत्ति जल और तेज के संयोग से, और बिजली के विभाग से होती है। इसी से बिजली कड़क सहित नीचे गिरती है। इस से तेज का सम्बन्ध जल और ओले दोनों में निश्चित है)

संगति-अब क्रमागत तेज वायु और मन के कर्म की परीक्षा करते हैं—

पृथिवीकर्मणा तेजः कर्म वायु कर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

(पूर्व सूत्र २ में जो पृथिवी का कर्म अदृष्ट शक्ति से

कहा है उस) पृथिवी कर्म से तेज का कर्म और वायु का कर्म व्याख्या किया गया है।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मा दृष्ट कारितम् ॥ १३ ॥

अग्नि का ऊपर जलना (अग्नि की अदृष्ट शक्ति से) वायु का तिरछा चलना (वायु की अदृष्ट शक्ति से) तथा परमाणुओं का और मन का (प्रलय के अनन्तर सब से) पहला कर्म (परमात्मा की अदृष्ट (शक्ति) से कराया जाता है।

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

हाथ के कर्म से मन का कर्म व्याख्या किया गया (जैसे पुरुष प्रयत्न से हाथ को प्रेरता है, ऐसे ही अब उन २ अभिमत विषयों में मन को भी प्रेरता है)

सं—अप्रत्यक्ष मन की सिद्धि पूर्व अनुमान से कही है, पर उस के कर्म की सिद्धि किस से अनुमान करनी चाहिये, इस का उत्तर देते हैं—

आत्मेन्द्रिय मनोर्थ सन्निकर्षात् सुख दुःखे ।१५।

आत्मा इन्द्रिय मन और अर्थ के सम्बन्ध से सुख दुःख होते हैं॥ मित्र को देख कर सुख, वैरी को देख कर दुःख होता है। ऐसा दर्शन नेत्र और मन के सम्बन्ध तथा मन और आत्मा के सम्बन्ध के विना नहीं हो सकता, और अणु मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध, विना कर्म के नहीं हो सकता, इस से मन के कर्म का अनुमान होता है।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः

स योगः ॥ १६ ॥

मन का आत्मा में स्थित होने पर उस का (=मन के कर्म का जो) अनारम्भ है, वह योग है, जो शरीर के दुःखाभाव का हेतु है।

अपसर्पण मुपसर्पणमशितपीत संयोगाः कार्यान्तर संयोगाश्चेत्य दृष्टकारितानि ॥ १७ ॥

(यह जो मरने के समय मन का पूर्व देह से) निकलना और (दूसरे देह में) प्रवेश करना है, तथा (जन्म से ही) जो खाने पीने की वस्तुओं के संयोग हैं, तथा दूसरे शरीर का संयोग है, ये (सब मनुष्य के) अदृष्ट से कराए जाते हैं।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः १८

(तत्त्व ज्ञान से) उस (अदृष्ट) का अभाव हो जाने पर (पूर्व शरीर से) संयोग का अभाव और नए का प्रकट न होना मोक्ष है।

सं—अन्धकार की भी गति परीक्षणीय है, इस पर कहते हैं—

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भाभावस्तमः १९

द्रव्य गुण कर्म की उत्पत्ति से विरुद्ध धर्म वाला होने से प्रकाश का अभाव है अन्धकार।

व्या—अन्धकार नित्य तो है नहीं, क्योंकि सदा नहीं रहता। कार्य मानें, तो कार्य द्रव्य अवयवों से उत्पन्न होता है, अन्धकार प्रकाश के दूर होने पर सहसैव प्रकट हो जाता है, और स्पर्श वाला भी नहीं है। और गुण और कर्म विना द्रव्य के रह

नहीं सकते । दूसरा-रूप गुण, और रूपि द्रव्य का कर्म, प्रकाश में प्रत्यक्ष होते हैं । अन्धकार के रूप कर्म प्रकाश के होते ही नाम मात्र भी नहीं रहते । इस लिए तम द्रव्य गुण कर्म नहीं, किन्तु प्रकाश का अभाव ही तम है ।

तेज सोद्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

तेज का अन्य द्रव्य से आवरण होने से (प्रकाशस्वभाव तेज जब किसी द्रव्य से रुक जाता है, तब अन्धकार हो जाता है, जैसे दिन के समय काली घटा हो जाने से । इस से भी यही सिद्ध होता है, कि प्रकाश का अभाव तम है । सो यह तेज का अभाव तम है, क्योंकि तेज उस समय नहीं है । और यह जो अन्धकार में गति की प्रतीति होती है, यह आवरक द्रव्य के न ठहरा रहने से प्रतीति होती है । द्रव्यान्तर से तेज का आवरण अन्धकार है, और वह तेज का आवरक द्रव्य एक स्थान में ठहरता नहीं । उस आवरक के अव्यवस्थान से अन्धकार की गति की प्रतीति है)

सं-कर्म शून्यता का प्रकरण आरम्भ करते हैं—

दिका लावा काशंच क्रियावद् वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

दिशा काल और आकाश क्रिया वालों से विरुद्ध धर्म वाले होने से निष्क्रिय हैं ॥

क्रिया नोदन से वा अभिघात से उत्पन्न होती है, और परिच्छिन्न द्रव्य में होती है । दिशा काल और आकाश मूर्त द्रव्य नहीं, इस लिए इन में नोदन वा अभिघात नहीं होता,

सो नोदन और अभिघात से शून्य अमूर्त द्रव्य होने से दिशा काल और आकाश निष्क्रिय हैं।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

इस से (क्रिया वालों से विरुद्ध धर्म वाले होने से) कर्म और गुण व्याख्या किये गए (क्योंकि कर्म और गुण द्रव्य ही नहीं, अतएव इन में नोदन और अभिघात नहीं होता)

सं-यदि गुण और कर्म निष्क्रिय हैं, तो उन का द्रव्य से सम्बन्ध कैसे होता है, क्योंकि एक का दूसरे से सम्बन्ध क्रिया के अधीन होता है, इस का उत्तर देते हैं—

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ।२३

निष्क्रियों का समवाय कर्मों से निषेध किया है (गुण और कर्म का सम्बन्ध समवाय है, और समवाय सम्बन्ध कर्मजन्य नहीं होता, कर्मजन्य संयोग सम्बन्ध होता है।

सं-गुण यदि कर्म से शून्य है, तो गुण गुणों और कर्मों के कारण कैसे होते हैं, कारण यदि विना कर्म के हों, तो विना कर्म के तन्तुओं से वस्त्र, मट्टी से घड़ा और बीज से अंकुर उत्पन्न हो, पर होता नहीं, इस से स्पष्ट है, कि कारणता विना कर्म के होती नहीं ? इस का उत्तर देते हैं—

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

(ऊपर के उदाहरणों से इतना ही सिद्ध होता है, कि द्रव्य दूसरे द्रव्य का समवायिकारण विना कर्म के नहीं होता पर गुण असमवायि कारण हैं (इस लिए दोष नहीं) ।

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

गुणों से दिशा व्याख्या की गई (दिशा भी किसी द्रव्यान्तर का समवायिकारण नहीं)।

कारणेन कालः ॥ २६ ॥

(निमित्त-) कारण रूप से काल व्याख्या किया गया है (काल हरएक उत्पत्ति वाली वस्तु का कारण तो है, पर निमित्त कारण है। समवायि कारण किसी का नहीं)

षष्ठ अध्याय-प्रथम आह्निक।

सं-लौकिक कर्म परीक्षा किये गए, अब अलौकिक परीक्षणीय हैं, उन का ज्ञान वेद से होता है, इस लिए पहले वेद के प्रामाण्य की परीक्षा करते हैं-

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

बुद्धिपूर्वक है वाक्य रचना वेद में।

व्या-वाक्य से वक्ता की बुद्धि का पता लगता है, क्योंकि जो जैसा जानता है, वह वैसी वाक्यरचना करता है। वेद वचनों से अलौकिक धर्म आदि का यथार्थ बोध होता है, इस से सिद्ध है, कि वेद का वक्ता वह है, जिस को धर्म आदि का साक्षात्कार है।

ब्राह्मणे संज्ञा कर्म सिद्धिलिंगम् ॥ २ ॥

ब्राह्मण में संज्ञा का कार्य सिद्धि का लिङ्ग है।

व्या-ब्राह्मण में जो 'छन्दांसि छादनात' छन्द (पाप के) ढांपने के कारण कहलाते हैं, इत्यादि वैदिक संज्ञाओं को अन्वर्थ सिद्ध किया है, यह भी वेदों की बुद्धिपूर्वक रचना का लिङ्ग है। क्योंकि अन्वर्थ नाम वही रख सकता है, जो

उस संज्ञी के धर्मों को साक्षात् जानता है ।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

बुद्धि पूर्वक है दान

व्या—उदाहरण द्वारा बुद्धि पूर्वकता को स्पष्ट करते हैं, कि वेद में जो दान के विषय में कहा है—

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा । इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (अथर्व ११ । १ । १८)

यह मेरा चमकता हुआ आयुवर्धक सुवर्ण, क्षेत्र से आया यह मेरा पका हुआ अनाज और यह मेरी काम दुघा गौ । यह धन मैं ब्राह्मणों में स्थापन करता हूं, इस से मैं वह मार्ग बनाता हूं, जो पितरों में स्वर्ग नाम से प्रसिद्ध है ।

यहां जगत् को सुमार्ग पर चलाने वाले ब्राह्मणों को जो दान बतलाया है, यह ऐसा बुद्धिपूर्वक है, जिस का कभी कोई प्रतिवाद नहीं कर सकता । और साथ ही जो पारलौकिक फल बतलाया है, इस का अधिकार उसी को है, जो दान के पारलौकिक फल का प्रत्यक्षदर्शी है ।

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

वैसे है (बुद्धि पूर्वक है) प्रतिग्रह

व्या—भूमिष्ट्वा प्रतिगृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् । माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य विराधिषि (अथर्व ३ । ३० । ८)

(प्रतिग्रहीता दान को लक्ष्य करके कहता है—) भूमि तुझे

स्वीकार करे, यह बड़ा अन्तरिक्ष तुझे स्वीकार करे (अर्थात यह धन मैं भूमण्डल के उपकार के लिए, वा यज्ञ द्वारा वायु आदि की पुष्टि के लिए स्वीकार करता हूं) जिस से कि मैं प्रतिग्रह लेकर न प्राण से, न मन से, न सन्तति से हीन होउं।

यहां जो दान लेने का अधिकार उस को दिया है, जिस के सामने भूमण्डल और वायुमण्डल को पुण्यमय बनाने से अतिरिक्त अपना कोई स्वार्थ नहीं। और साथ ही यह भी बतला दिया है, कि प्रतिग्रह लेकर प्रतिग्रहीता यदि भूमण्डल और वायु मण्डल के उपकार में प्रवृत्त रहता है तो उस का प्राण, मन और सन्तान (आयु आत्मबल और सन्तति) बढ़ती है, और यदि उक्त उपकार मे प्रवृत्त न रहकर स्वार्थ में प्रवृत्त रहता है, तो प्रतिग्रह से उस की आयु आत्मबल और सन्तति घटती है। यह सब उदार और यथार्थ बुद्धि के चिन्ह हैं॥

इन हेतुओं से स्पष्ट है, कि वेद उस की कृति है, जिस को कर्मों के लौकिक और अलौकिक फलों का यथार्थ ज्ञान है, वेद का उपदेश भ्रम और प्रमाद से शून्य है, अतएव धर्म में प्रमाण है।

सं–धर्मा धर्म में वेद की प्रमाणता स्थापन करके, धर्म के फल की विवेचना आरम्भ करते हुए पहले सामान्य नियम बतलाते हैं—

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ।५।

क्योंकि अन्य आत्मा के गुण अन्य आत्मा में कार्यकर नहीं होते (इस लिए फल अपने ही किये का मिलता है)

सं–दान में पात्र अपात्र की विवेचना दिखलाते हैं—

तद्दुष्ट भोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

वह (पुण्य) दुष्ट के खिलाने में नहीं होता है !

दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

हिंसा में प्रवृत्त को दुष्ट (जाने। हिंसा, सताना द्रोह करना)

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

उस के (दुष्ट के) संसर्ग से भी दोष होता है ।

तद् दुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

वह (संसर्ग दोष) अदुष्ट मे नहीं होता है (दुष्टों में रह कर भी यदि स्वयं दोषों से शून्य रहता है, तो फिर संसर्ग दोष उस को नहीं लगता है। अन्यथा उन में रह कर उन का सुधार करने वाला भी दोषभागी हो)

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

(दान का जब २ प्रसंग हो) वार २ अपने से उत्तम में प्रवृत्ति करे ।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

(अपने से उत्तम न भी हो, तो) अपने समान में वा अपने से हीन में प्रवृत्ति करे (किन्तु दुष्ट न हो)

एतेन हीन समविशिष्ट धार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

इस से हीन, सम और विशिष्ट धार्मिकों से दान लेना भी व्याख्या किया गया (दान भी अपने से हीन, सम वा विशिष्ट से लेवे, पर लेवे धार्मिक से ही अधार्मिक से कभी नहीं)

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

वैसे विरुद्धों का त्याग (हीन सम और विशिष्ट की दृष्टि से इस प्रकार हो कि)

हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

यदि विरोधी अपने से हीन (हीन गुण) हो, तो उस का त्याग (करना चाहिये) ।

सम आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

सम हो, तो अपना त्याग वा पर का त्याग (करना चाहियें)

विशिष्ट आत्मत्यागः ॥ १६ ॥

विशिष्ट हो, तो अपना त्याग (करना चाहिये) ।

षष्ठम अध्याय—द्वितीय आह्निक ।

संगति—अब विशेष से धर्म परीक्षा के लिए कर्म फल की विवेचना करते हैं—

दृष्टा दृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजन मभ्युदयाय ॥ १ ॥

दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वालों में से दृष्ट के अभाव में प्रयोजन अभ्युदय के लिए होता है ।

व्या—कई कर्म यहां फल भोग के लिए किये जाते हैं, जैसे खेती व्यापार आदि, कई पारलौकिक फल के लिए, जैसे अश्वमेध आदि । सो वैदिक कर्मों में से जिन का फल दृष्ट है, वे तो दृष्ट फल के लिए हैं, पर जिन का दृष्ट फल नहीं, उन का प्रयोजन अदृष्ट आत्म संस्कार द्वारा अभ्युदय होता है ।

सं-उन में से अदृष्ट प्रयोजन वाले कुछ कर्म दिखलाते हैं—

अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्य गुरुकुल वास वान-प्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चा दृष्टाय ॥ २ ॥

(यज्ञ के आरम्भ में विधिवत) अभिषेक, उपवास, ब्रह्मचर्य, (वेदाध्ययन के लिए यथाविधि) गुरुकुल वास, वानप्रस्थ के तप, यज्ञ, दान (यज्ञों में व्रीहि आदि का) प्रोक्षण, (कर्मानुष्ठान में) दिशा का नियम, नक्षत्र का नियम, मन्त्र का नियम और काल का नियम, ये अदृष्ट फल के लिए हैं (अर्थात आत्मा में धर्म को उत्पन्न करके, उस धर्म द्वारा फल जनक होते हैं)

चातुराश्रम्य मुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥

चारों आश्रमों में कहा कर्म, उपधा और अनुपधा (रूप हो कर फलप्रद होता है)

भावदोष उपधाऽदोष ऽनुपधा ॥ ४ ॥

भाव का दोष उपधा और दोष का अभाव अनुपधा है ॥

अर्थात आश्रम कर्म यदि शुद्ध भावों से किये जाते हैं, तो अभ्युदय के लिए होते हैं और यदि दुष्ट भावों (मद मान लोभ मोह) से प्रेरित हो कर किये जाते हैं, तो अभ्युदय के लिए नहीं, किन्तु अनिष्ट फल के जनक होते हैं।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥ ५ ॥

जो द्रव्य अभीष्ट (इन्द्रियों को अभिमत) रूप, रस, गन्ध स्पर्श वाला है, (यज्ञ में मन्त्र पढ़ कर जल से) प्रोक्षण किया गया है वा (विना मन्त्र भी शुद्ध जल से) शोधा गया है, वह शुचि है।

अशुचीति शुचि प्रतिषेधः ॥ ६ ॥

अशुचि, यह शुचि के विरोध को कहते हैं (जिस द्रव्य का रूप रस गन्ध स्पर्श विकृत हो गए है । प्रोक्षण के योग्य प्रोक्षित नहीं हुआ, अभ्युक्षण के योग्य अभ्युक्षित नहीं हुआ, तो वह अशुचि है)

अर्थान्तरं च ॥ ७ ॥

अर्थान्तर भी अशुचि होता है।

व्या– अशुचि केवल शुचि का अभावमात्र नहीं, इस से अलग भी है। जिस का रूप रस गन्ध स्पर्श अविकृत हैं, पर द्रव्य चोरी का है, तो वह भी अशुचि है। शुद्ध भाजन प्रोक्षित भी जब भावना से दूषित है, तो अशुचि है।

अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद् विद्यते वा ऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ८

(अहिंसा आदि) यम रहित को शुचि भोजन से अभ्युदय नहीं होता है, क्योंकि उस के साथ नियम का अभाव रहा है (यह पूर्वपक्ष कह कर सिद्धान्त कहते हैं) अथवा होता है, क्योंकि यह (अहिंसा आदि) अलग पदार्थ है (वह अपने फल का जनक होता है, और शुचि भोजन अलग है, वह अपने फल का जनक है)।

असति चा भावात् ॥ ९ ॥

न होने पर न होने से

व्या-क्योंकि यदि यम में तत्पर भी हो, पर भोजन शुचि न करे, तो उस भोजन का फल अभ्युदय नहीं होगा। इस लिए यम और शुचि भोजन दोनों आवश्यक हैं।

सं-धर्म की परीक्षा के अनन्तर, धर्माधर्म में प्रवृत्ति के मूल राग द्वेष का निरूपण करते हैं—

सुखाद् रागः ॥ १० ॥

सुख से राग होता है।

व्या-जब किसी वस्तु के भोगने से उस में सुख मिलता है, तो सुख से उस में राग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार दुःख के भोगने से दुःखदायी सर्प आदि में द्वेष उत्पन्न होता है।

तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥

तन्मय होने से भी (राग होता है)

व्या-किसी अत्यन्त अभिमत वा अनभिमत विषय के दर्शन से जो प्रबल संस्कार का उत्पन्न होना है, यह तन्मय होना है, ऐसे संस्कार से आसक्त को सर्वत्र प्रिया का दर्शन, भयभीत को सर्प का दर्शन होता है, इस संस्कार से भी राग द्वेष होते हैं। यद्यपि ये संस्कार भी सुख दुःख के भोग से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि ये संस्कार राग द्वेष को उद्बुद्ध रखते हैं, इस लिए अलग कहे हैं।

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

अदृष्ट से भी (आत्मा की अदृष्ट शक्ति से भी राग द्वेष होता है, जैसे यौवन में पुरुष को स्त्री, और स्त्री को पुरुष में

राग उत्पन्न होता है। पूर्व जन्म के अदृष्ट से भी किसी का किसी में राग विशेष होता है। जैसे नल दमयन्ती का परस्पर हुआ)।

जाति विशेषाच्च ॥ १३ ॥

जाति विशेष से भी (वस्तु विशेष में राग द्वेष होता है। जैसे ऊंट आदि का कांटे आदि में राग, और नेउले का सर्प में द्वेष होता है)

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

इच्छा द्वेष पूर्वक धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति होती है।

व्या-प्रायः राग से धर्म में (यागादि में) और द्वेष से अधर्म (हिंसादि) में प्रवृत्ति होती है। पर कभी द्वेष से भी धर्म में और राग से भी अधर्म में होती है, जैसे आततायी से द्वेष के कारण उस के मारने में, और धन में राग के कारण चोरी में प्रवृत्ति होती है।

सं-अब धर्माधर्म का कार्य प्रेत्य भाव बतलाते हैं—

तत्संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

उन से संयोग और विभाग होता है।

व्या-धर्माधर्म के निमित्त से ही आत्मा का शरीर आदि से संयोग होता है, इसी का नाम जन्म है, और फिर विभाग होता है, इसी का नाम मरण है। यह जन्म मरण का सिलसिला बना रहता है। जब इस का उपरम होता है वह—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

मोक्ष आत्मा के कर्मों में व्याख्या किया गया है (पूर्व ५ । २ । १८)

सप्तम अध्याय—प्रथम आह्निक ।

संगति—द्रव्य कर्म की परीक्षा करके, गुणों की परीक्षा करना चाहते हुए, उन के कहे लक्षण और उद्देश का स्मरण कराते हैं—

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

कहे हैं गुण

पृथिव्यादि रूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वाद नित्याश्च ॥ २ ॥

(उन में से) पृथिवी आदि के जो रूप रस गन्ध और स्पर्श हैं, वे (अपने आधार) द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य होते हैं (उन के नाश होने पर इन का नाश अवश्यम्भावी है)

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

इस से नित्यों में नित्यत्व कहा है।

क्या—जब द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य होते हैं, तो नित्य द्रव्यों में द्रव्य के नित्य होने से नित्य होते हैं, यह अर्थ-सिद्ध हुआ। पर यह नियम सब में नहीं, किन्तु—

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ।४

जल, तेज और वायु में (रूप, रस, स्पर्श) तो नित्य होते हैं, द्रव्य के नित्य होने से। और—

अनित्येष्वनित्या द्रव्या नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

अनित्यों में अनित्य होते हैं, द्रव्य के अनित्य होने से।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः । ६ ।

कारणगुणपूर्वक होते है (रूप रस गन्ध स्पर्श) और पृथिवी में पाकज भी होते हैं ।

व्या-रूप रस गन्ध स्पर्श कारणगुणपूर्वक होते हैं । जैसे कारण में हों, वैसे उन के कार्य में होते हैं । श्वेत मीठे शीत अणुओं से बना जल श्वेत मीठा और शीत होता है । भास्वर उष्ण अणुओं से बना तेज भास्वर और उष्ण होता है । श्वेत तन्तुओं से बना वस्त्र श्वेत और नीली तन्तुओं से बना नीला होता है । इस प्रकार रूप रस गन्ध स्पर्श कारणगुणपूर्वक तो पृथिवी जल तेज वायु इन चारों में होते हैं, पर पृथिवी में पाकज भी होते हैं, अर्थात् तेज के संयोग से भी उत्पन्न होते हैं । जैसे आंपाक में पकाने से मट्टी के वर्तनों का रूप लाल हो जाता है । और पके हुए आम के रूप रस गन्ध स्पर्श सभी बदल जाते हैं । अब पके हुए घड़े को फोड़ें, तो उस के अन्दर के छोटे २ अणु भी लाल ही निकलते हैं । इस से स्पष्ट है, कि यह नया रूप अणुओं तक बदल गया है । इस से सिद्ध है, कि पृथिवी के परमाणुओं के रूपादि भी तेज के संयोग से बदल जाते हैं, अतएव नित्य पृथिवी (परमाणु रूपा पृथिवी) के भी रूपादि अनित्य हैं ।

सं-किस प्रकार कारण के गुण कार्य में गुण उत्पन्न करते हैं? इस का उत्तर देते हैं—

एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

एक आश्रय वाला होने से

व्या-वस्त्र जिस में रूप उत्पन्न होता है, वह तन्तुओं के

आश्रय है, और उन्हीं तन्तुओं में वह रूप है, जिस ने वस्त्र में रूप उत्पन्न करना है। सो इस प्रकार कार्य के साथ एक आश्रय में रहने से कारण के गुण कार्य में अपने सजातीय गुण उत्पन्न करते हैं।

सं-संख्या के गुण होने में वादियों का विवाद है, इस लिए क्रम को उलांघ कर सूचीकटाह न्याय से पहले परिमाण की परीक्षा करते है—

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

अणु का अप्रत्यक्ष होना और महत्व का प्रत्यक्ष होना नित्य (नित्यों के प्रकरण में=४ । १ में) व्याख्या किये गए हैं।

सं-महत्व जो प्रत्यक्ष है, वह जन्य है, उस के कारण बतलाते हैं—

कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

कारण के बहुत्व से

व्या-बहुत से अवयवों के मेल से जब एक द्रव्य उत्पन्न होता है, तो उस में महत्व परिमाण उस के अवयवों के बहुत्व से उत्पन्न होता है। अर्थात सारे अवयव मिलकर एक परिमाण को आरम्भ करते हैं। इस लिए वह द्रव्य उन की अपेक्षा महत्व होता है। इस प्रकार होते २ जब दृष्टि के योग्य होता है, तो महत्व प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है।

अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

इस से (महत्व परिमाण से) उलट अणु होता है।

व्या-वैशेषिक प्रक्रिया इस प्रकार मानी गई है, कि परिमाण

संख्याजन्य परिमाणजन्य और प्रचय-(शिथिल संयोग) जन्य होता है। परमाणु का परिमाण अणु है। दो परमाणुओं से द्व्यणुक उत्पन्न होता है, उस का परिमाण भी अणु होता है। उस का कारण परमाणु का अणुत्व नहीं, किन्तु उन दोनों का द्वित्व है। क्योंकि यदि संख्या को कारण न मान कर परिमाण को ही कारण मानें, तो यह दोष आयगा, कि परिमाण से जो परिमाण होता है वह पहले से उत्कृष्ट होता है। जैसे महत्व से महत्तर। इसी तरह परमाणु का परिमाण तो है अणु। उस से आगे परिमाण उत्पन्न होगा, तो वह अणुतर होगा। और उस से आगे अणुतम, इस क्रम से कभी महत्व उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए यह मानते हैं, कि द्व्यणुक का अणु परिमाण परमाणुओं के द्वित्व से उत्पन्न होता है। आगे तीन द्व्यणुकों से त्रसरेणु उत्पन्न होता है। त्रसरेणु का परिमाण महत्व है। इस महत्व का आरम्भक भी द्व्यणुक का परिमाण नहीं, क्योंकि वह अणु है। अणु महत्व का आरम्भक नहीं होता। इस लिए त्रसरेणु के महत्व का आरम्भक द्व्यणुक का त्रित्व (बहुत्व) संख्या है। ये दो परिमाण तो हैं संख्या जन्य। त्रसरेणु से अगले जन्य महत्व सब परिमाणजन्य होते हैं, अर्थात् अवयवों के महत्व से महत्तर होते जाते है। ये हुए परिमाणजन्य। तीसरा जो प्रचय जन्य है, वह रुई का महत्व होता है, क्योंकि रुई जब धुनी जाती है, तो पहले से अधिक स्थान घेरती है। अब यह परिमाण परिमाणजन्य नहीं प्रचय जन्य है। यह उन की पक्रिया है, इस पक्रिया के अनुसार ही इन दोनों सूत्रों का आशय निकालते हैं। हमने सूत्रों का सीधा आशय दिखला दिया है। हम इस

बात को स्वीकार नहीं करते, कि नियम से पहले दो ही परमाणु मिलते हैं, और फिर तीन ही त्र्यणुक मिलते हैं, और न यह कि जो झरोखे में त्रसरेणु दीखते हैं, वह छः ही परमाणुओं के हैं। और न यह, कि संख्या को कारण न मानने में अणु से अणुतर उत्पन्न होगा। किन्तु यह मानते हैं, कि अवयवों का परिमाण अवयवी के परिमाण का आरम्भक होता है, और वह सारे अवयवों के एकत्रित पिण्ड के समपिण्ड होता है। दो मिलेंगे, तो दो के समपिण्ड होगा, दस मिलेंगे, तो दस के समपिण्ड होगा। जब दृष्टि योग्य महत्व होगा, तब दीखने लगेगा। रुई का भी परिमाण परिमाण जन्य ही है, धुनने से उस के अवयव शिथिल हो गए हैं, उन शिथिल अवयवों के पिण्ड के समपिण्ड नया परिमाण उत्पन्न हुआ है।

सं—यदि अणुत्व महत्व से विपरीत होता है, तो फिर अणुत्व और महत्व इकट्ठे नहीं रह सकेंगे, पर प्रतीत इकट्ठे होते हैं, जैसे रत्ती से आमला बड़ा है, अनार से छोटा है? इस का उत्तर देते हैं—

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ ११ ॥

अणु महत्व यह उस (एक) में विशेष होने से और विशेष के न होने से होता है (रत्ती की अपेक्षा आमले में विशेषता है, रत्ती की अपेक्षा उस का पिण्ड अधिक स्थान को घेरता है, इस लिए वह उस से महत्व कहलाता है, और अनार की अपेक्षा आमले में विशेषता नहीं है, इस लिए वह उस से अणु कहलाता है। अर्थात् यह अणुत्व महत्त्व व्यवहार सापेक्ष होने से गौण है, मुख्य नहीं। क्योंकि—

एक कालत्वात् ॥ १२ ॥

एक काल में होने से।

व्या–एक ही वस्तु में एक ही काल में प्रतीत होते हैं, इस लिए ये अणुत्व महत्त्व सापेक्ष हैं। एक की अपेक्षा से वह जिस काल में अणु है, दूसरे की अपेक्षा से उसी काल में महत्व हो सकता है।

दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

दृष्टान्त से।

व्या–देखा जाता है, कि यज्ञदत्त की सेना देवदत्त की सेना से वड़ी है और आधिक शूरवीर है, पर विष्णुमित्र की सेना से विपरीत है। तमालवन की अपेक्षा पद्मवन सुरभि है, चन्दन वन की अपेक्षा विपरीत है, इत्यादि अनेकों दृष्टान्त हैं।

सं–अणु, अणुतर, अणुतम और महत्, महत्तर, महत्तम ऐसी प्रतीति से अणुत्व में अणुत्व और महत्त्व में महत्त्व की सिद्धि होती है, इस आशंका को मिटाते हुए कहते हैं—

अणुत्व महत्त्वयो रणुत्वमहत्त्वा भावः कर्मगुणै व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व और महत्त्व का अभाव कर्म और गुणों मे व्याख्या किया गया।

सं–'कर्म गुणैः' के आशय को खोलते है—

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः। १५

कर्मों से कर्म और गुणों से गुणु व्याख्या किये गए (जैसे जाता है, और शीघ्र जाता है। यहां शीघ्रता पहली गति के

अन्दर दूसरी गति नहीं, किन्तु द्रव्य में ही पहली गति से दूसरी विलक्षण गति वतलाई है। और जैसे लाल है और गूढा लाल है, यहां गूढ़ता पहली लाली में और लाली नहीं, किन्तु द्रव्य में ही पहली लाली से दूसरी विलक्षण लाली वतलाई है। इसी प्रकार अणुतर और महत्तर आदि से भी द्रव्य में ही विलक्षण अणुत्व और विलक्षण महत्त्व बोध होता है। अणुत्त्व में अणुत्वान्तर और महत्त्व में महत्त्वान्तर नहीं।

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः १६

अणुत्व और महत्त्व से कर्म और गुण व्याख्या किये गए (अर्थात् छोटे कर्म वड़े कर्म, छोटे गुण वड़े गुण इत्यादि व्यवहार से जो कर्मों और गुणों में अणुत्व और महत्त्व की प्रतीति होती है, वह भी गौणी है। क्योंकि अणुत्व और महत्त्व की नाई कर्म और गुणों में अणुत्व महत्त्व नहीं रहते)।

सं-अणुत्व महत्त्व का पूरा वर्णन करके तत्तुल्यता ह्रस्वत्व दीर्घत्व में दिखलाते हैं—

एतेनदीर्घत्व ह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

इस से दीर्घत्व ह्रस्वत्व व्याख्या किये गए।

व्या—जैसे अणु है महत् है, इस व्यहार मे अणुत्व महत्त्व की सिद्धि है, वैसे दीर्घ है, ह्रस्व है, इस व्यवहार से दीर्घत्व ह्रस्वत्व की सिद्धि होती है, और तद्वत् ही यह इस से दीर्घ है, इस से ह्रस्व है, इत्यादि सापेक्ष व्यवहार की सिद्धि होती है।

सं-सो यह चारों प्रकार का परिमाण—

अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

अनित्य में अनित्य होता है (आश्रय के नाश से आश्रित का नाश अवश्यम्भावी है)।

नित्ये नित्यम् ॥ १९ ॥

नित्य में नित्य होता है (आश्रय के बना रहने से परिमाण नष्ट नहीं होता है)।

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

नित्य है परिमण्डल (परमाणु)

अविद्या च विद्या लिङ्गम् ॥ २१ ॥

अयथार्थ प्रतीति यथार्थ प्रतीति का चिन्ह होती है।

व्या—रस्सी में सर्प की अयथार्थ प्रतीति तभी होती है, जब यथार्थ सर्प भी है। इसी तरह आमले आदि में जो अणुत्व ह्रस्वत्व की प्रतीति गौणी है, वह तभी घट सकती है, जब मुख्य अणुत्व ह्रस्वत्व भी हों, वह मुख्य अणुत्व ह्रस्वत्व परमाणु में है अन्यत्र गौण हैं।

विभवान्महाना काशस्तथा चात्मा ॥२२॥

विभु होने से महान् है आकाश, वैसे आत्मा है।

व्या—जहां कहीं शब्द उत्पन्न होता है, सर्वत्र आकाश कारण है, इस लिए आकाश विभु है, सारे परिच्छिन्न द्रव्यों के साथ मिला हुआ है. इसी लिए महान् है। पृथिवी आदि में जो महत्व है वह सातिशय है, आकाश में निरतिशय है, इस लिए वह परम अणु की नाई परम महान् है, ऐसे ही आत्मा है।

तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

उस के अभाव से (अर्थात् विभुत्व के अभाव से) अणु

है मन (देखो पूर्व १ । २ । १)

सं-दिशा और काल का भी परम महत् परिमाण बतलाते हैं—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २४ ॥

गुणों से दिशा व्याख्या की गई है (परे वरे का व्यवहार सर्वत्र होने से दिशा भी विभ्वी है, अतएव परम महत् परिमाण वाली है) ।

कारणे कालः ॥ २५ ॥

(वर्तमान, भूत, भविष्यत् व्यवहार के) कारण में काल नाम है (और यह व्यवहार एक ही समय सर्वत्र होता है, इस लिए काल भी परम महत् परिमाण वाला है ।

सप्तम अध्याय, द्वितीय आह्निक ।

सं-महत् परिमाण वाले में संख्या आदि प्रत्यक्ष होते हैं, इस लिए परिमाण निरूपण के अनन्तर संख्या आदि का निरूपण करते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्श व्यतिरेकादर्थान्तर मेकत्वम् ।१।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के अभाव मे अलग पदार्थ है एकत्व

व्या–जहां रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं होते, वहां भी एकत्व की प्रतीति होती है, जैसे आकाश एक है, ईश्वर एक है, इत्यादि इस से सिद्ध है, कि एकत्व रूप रस गन्ध स्पर्श से एक अलग पदार्थ है ।

तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

(जैसे यह एकत्व है) वैसे पृथक्त्व भी (रूपादि से भिन्न पदार्थ है । क्योंकि रूपादि से शून्यों में भी 'आकाश काल से पृथक् है' ऐसी प्रतीति होती है ।

सं- एक है एकत्व' इस प्रतीति के बल से एकत्व में भी एकत्व और 'रूपादि से पृथक् पृथक्त्व है, इस प्रतीति के बल से पृथक्त्व में भी पृथक्त्व मानना चाहिये, इस का उत्तर देते हैं—

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्व महत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ३ ॥

एकत्व और एक पृथक्त्व में एकत्व और एक पृथक्त्व का अभाव अणुत्व और महत्त्व से व्याख्यात है (देखो ७।१।१४)

सं-यह एक घड़ा है, इस प्रतीति की नांई 'यह एक रूप है' 'यह एक कर्म है' इत्यादि रूप से एकत्व तो गुण कर्म में भी सिद्ध होता है, इस का उत्तर देते हैं—

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ४

कर्म और गुण संख्या से शून्य होते हैं, इस लिए सब में एकत्व नहीं है (एकत्व केवल द्रव्यों में ही रहता है । गुण कर्म में औपचारिक प्रतीति होती है) ।

भ्रान्तं तत् ॥ ५ ॥

अतएव भ्रम रूप है वह (—एक है कर्म इत्यादि ज्ञान । अर्थात् गुण कर्म में एकत्व व्यवहार मुख्य नहीं, गौण है)

सं-अच्छा, तो 'यह एक रूप है' इस व्यहार की नाईं 'यह एक घड़ा है' यह व्यवहार भी औपचारिक ही क्यों न मान लिया जाए, इस का उत्तर देते हैं—

एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते ॥ ५ ॥

एकत्व के अभाव से तो उपचार हो ही नहीं सकता है, (यदि मुख्य प्रयोग कहीं भी न माना जाय, तो औपचारिक

भी नहीं हो सकता, क्योंकि कहीं मुख्य होने से अन्यत्र उपचार हो सकता है, और कहीं प्रमा होने से अन्यत्र भ्रम हो सकता है। इस लिए द्रव्यों में एकत्व व्यवहार मुख्य है, क्योंकि एकत्व गुण है, और द्रव्य गुणों के आधार प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। रूपादि में एकत्व व्यवहार औपचारिक है, एक व्यक्ति में स्थिति आदि का बोधक है।

सं-प्रत्येक द्रव्य में अपना २ अलग एकत्व और एक पृथक्त्व सदा बना रहता है, पर कार्य और कारण (जैसे तन्तु और पट) दो में एक एकत्व और पृथक्त्व रहता है, क्योंकि कार्य और कारण में अभेद होता है, इस मत का खण्डन करते हैं—

कार्य कारणयोरेकत्वैक पृथक्त्वा भावादेकत्वैक पृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

कार्य और कारण में एकत्व और एक पृथक्त्व के न होने के कारण एक एकत्व और एक पृथक्त्व नहीं है (किन्तु एक एक तन्तु में जो अलग एकत्व है, उन सब से वस्त्र में एक एकत्व उत्पन्न होता है, तथा उन में जो अलग २ एक पृथक्त्व है, उन सब से वस्त्र में एक पृथक्त्व उत्पन्न होता है। वस्त्र की अभाव दशा में वस्त्र के एकत्व और एक पृथक्त्व का भी अभाव है, पर तन्तुओं में एकत्व और एक पृथक्त्व उस समय भी है)

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

यह अनित्यों (उत्पत्ति विनाश वाले एकत्व और एक एक पृथक्त्वों) का व्याख्यान किया गया है (नित्य एकत्व

और नित्य* एक पृथक्त्व नित्य द्रव्यों में रहते हैं)

सं-संयोग विभाग की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

दोनों में से एक के कर्म से जन्य (जैसे पक्षी के कर्म से पक्षी वृक्ष का संयोग) दोनो के कर्म से जन्य (जैसे मेंढों का) और संयोग से जन्य (जैसे हस्त पुस्तक के संयोग से शरीर पुस्तक का संयोग) (यह तीन प्रकार का) संयोग होता है ।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

इस से विभाग व्याख्या किया गया (विभाग भी तीन प्रकार का है, एक कर्म से जन्य, जैसे पक्षी के उड़ जाने से पक्षी और वृक्ष का विभाग, दूसरा दोनों के कर्म से जन्य, जैसे मेंढों का टक्कर मार कर पीछे हटने से, तीसरा विभाग से जन्य, जैसे हस्त पुस्तक के विभाग से शरीर पुस्तक का विभाग) ।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्व महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

संयोग और विभाग में संयोग और विभाग का अभाव अणुत्व और महत्त्व से व्याख्या किया गया (जैसे अणुत्व और महत्त्व में अणुत्व और महत्त्व नहीं होता, वैसे संयोग और विभाग में संयोग और विभाग नहीं रहता । इस लिए संयुक्तों

---

* द्वित्यादि का विचार न करने से मुनि का यह अभिप्राय हो सकता है, कि एकत्व और एक पृथक्त्व ही गुण हैं, द्वित्व और द्विपृथक्त्वादि व्यवहार मात्र के साधक बुद्धि धर्म है ।

का फिर आगे अन्य से संयोग होने पर, और विभक्तों का फिर परस्पर विभाग होने पर जो यह व्यवहार होता है, कि संयोग से संयोग और विभाग में विभाग हुआ, यह व्यवहार मात्र है, संयोग और विभाग वहां भी द्रव्यों का ही हुआ है)

सं-उदाहरण के लिए (७ । १ । १५-१६ में) उक्त विषय का स्मरण कराते हैं—

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्व महत्त्वाभ्या-मिति ॥ १२ ॥

स-कार्य कारण के परस्पर संयोग विभाग क्यों नहीं होते, इस आशंका का उत्तर देते हैं—

युत सिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥

मिल कर इकट्ठे न होने से कार्य और कारण का संयोग विभाग नहीं होता है ।

व्या-संयोग और विभाग उन का होता है, जो पहले अलग २ हों, फिर आपस में मिल कर इकट्ठे हों । इस नियम के अनुसार यदि तन्तु और वस्त्र पहले अलग २ रह कर फिर मिलते, तब उन का संयोग और विभाग होता । पर वस्त्र कभी तन्तुओं से अलग रहना नहीं । इस लिए उन का संयोग विभाग नहीं माना जाता । ऐसे ही किसी भी कार्य का कारण के साथ संयोग विभाग नहीं होता ।

सं-प्रसंग से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निर्धारण करने के लिए संयोग सम्बन्ध का खण्डन करते हैं—

गुणत्वात् ॥ १४ ॥

गुण होने से (संयोग नहीं। संयोग होता है द्रव्यों का, शब्द है गुण, उस का द्रव्य के साथ संयोग नहीं घट सकता)

गुणोपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

गुण भी (शब्द द्वारा) प्रतीत कराया जाता है (सो गुण गुण का संयोग तो सर्वथा ही असंभावित है)

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

क्रिया हीन होने से (=संयोग क्रिया के अनन्तर होता है, शब्द में क्रिया होती ही नही, क्योंकि गुण है। और जहां अर्थ भी क्रियाहीन हो, जैसे आकाश, वहां दोनों के क्रिया हीन होने से सुतरां संयोग नही हो सकता)।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

न होते हुए 'नहीं है' ऐसा प्रयोग होने से ॥

जब घड़ा है ही नहीं, तब भी शब्द बोला जाता है, कि 'घड़ा नहीं है'। इस से सिद्ध है, कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग वा समवाय कोई भी सम्बन्ध नहीं, जो है ही नहीं, उस के साथ सम्बन्ध क्या। अतएव

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

शब्द और अर्थ विना सम्बन्ध के हैं (ऐसी दशा में शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जो आपस में सम्बद्ध हों, उन्हीं में से एक की उपलब्धि से दूसरे की उपलब्धि होती है)

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ।१९।

संयोग वाले दण्ड के निमित्त (दण्डी=दण्ड वाला) और समवाय वाले अङ्ग के निमित्त (हस्ती=सूंड वाला) प्रतीति होती है (ऐसी प्रतीति शब्द अर्थ में नहीं होती, कि शब्द वाला घड़ा है, वा घड़े वाला शब्द है, इस लिए शब्द अर्थ का सम्बन्ध नहीं घट सकता है) ।

सं-तो फिर शब्द से अर्थ की कैसे प्रतीति होती है, इस का उत्तर देते हैं—

सामयिकः शब्दादर्थ प्रत्ययः ॥ २० ॥

सांकेतिकी है शब्द से अर्थ की प्रतीति (इस शब्द से यह अर्थ जानना, यह जो शब्द और अर्थ का संकेत है इस संकेत के निमित्त ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, अतएव एक ही अर्थ के बोधनार्थ भिन्न २ भाषा भाषियों के अलग २ संकेत हैं और हर एक को अपने संकेतित शब्दों से ही अर्थ की प्रतीति होती है। संकेत के न जानने वाले को शब्द सुन कर भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती) ।

सं-क्रम प्राप्त परत्व अपरत्व की परीक्षा आरम्भ करते हैं—

एकदिक्काभ्या मेककालाभ्यां सन्निकृष्ट विप्रकृष्टाभ्यां परम परंच ॥ २१ ॥

एक दिशा वाले वा एक काल वाले समीपी दूरस्थ दो की अपेक्षा से पर और अपर होता है (परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है, दैशिक=देशकृत, और कालिक=कालकृत। एक ही दिशा में जो दो वस्तुओं में से एक तो दूर और दूसरी निकट हों, तो उन में से एक में 'परली वस्तु' और दूसरी में 'वरली

वस्तु ' ऐसी प्रतीति होगी। अब वस्तु के परली वरली ये विशेषण विना किसी धर्म के हो नहीं सकते। सो परली में 'परत्व' और वरली में ' अपरत्व ' धर्म है। ये परत्व और अपरत्व उन में दैशिक हैं, क्योंकि एक दिशा की अपेक्षा से उन में प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार काल की अपेक्षा से जो एक को बड़ा (परला) और दूसरे को छोटा (वरला) कहते है, ये परत्व अपरत्व काल की दृष्टि से हैं, अतएव कालिक कहलाते हैं)।

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

कारण के परे होने से और कारण के वरे होने से (पर अपर होते है । दैशिक परत्व अपरत्व में जिस का देश परे तक जाता है, इस में 'पर,' और जिस का वरे रहता है, उस में 'अपर' व्यवहार होता है। जैसे प्रयागस्थों को कलकत्ता काशी से परे है, काशी कलकत्ते से वरे है, इस लिए काशी की अपेक्षा से कलकत्ते में पर और कलकत्ते की अपेक्षा से काशी में अपर व्यवहार होगा। निरपेक्ष नहीं। इसी प्रकार जिस का जन्मकाल परे तक जाता है, इस में पर, और जिस का वरे रहता है, उस में अपर व्यवहार सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं।

सं-पर भी किसी की अपेक्षा अपर और अपर भी किसी की अपेक्षा पर है, इस लिए अणुत्व महत्व की नांई यहां भी परत्व अपरत्व में परत्व अपरत्व की आशंका को अणुत्व महत्व की व्याख्यान रीति से मिटाते है—

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावो ऽणुत्व महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ २३ ॥

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥

गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥

सं-सूची कटाह न्याय से बुद्धि से पूर्व ही समवाय की परीक्षा करते हैं—

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः २६।

कार्य और कारण में 'इस में यह है' यह प्रतीति जिस सम्बन्ध से होती है, वह समवाय है।

व्या—'तन्तुओं में वस्त्र है' वा 'तन्तुओं के आश्रय वस्त्र है' ऐसी प्रतीति बिना सम्बन्ध के नहीं हो सकती, और संयोग सम्बन्ध यहां बन नहीं सकता, क्योंकि संयोग उन का होता है, जो पहले अलग हुए २ फिर जुड़ें, वस्त्र तन्तुओं से अलग कभी था ही नहीं। सो इस प्रतीति का नियामक कोई अन्य सम्बन्ध मानना चाहिये, उसी का नाम समवाय है।

यहां कार्य कारण उदाहरण मात्र हैं। अभिप्राय उन सब से है, जो अयुत सिद्ध हैं, अर्थात् जिन में से एक सदा दूसरे के आश्रय ही रहता है, स्वतन्त्र हो कर कभी नहीं रहता उन सब का सम्बन्ध समवाय है, सो इस प्रकार गुण गुणी का कर्म कर्मी का, जाति व्यक्ति का, अवयव अवयवी का सम्बन्ध समवाय है।

सं-प्रश्न-समवाय को अलग पदार्थ न मान कर द्रव्य गुणत्व स्वरूप ही क्यों न मान लिया जाय? इस आशंका को मिटाते हैं—

द्रव्यत्वगुणत्व प्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः।२७

द्रव्यत्व गुणत्व का प्रतिषेध सत्ता से व्याख्यात है।

व्या–जैसे सत्ता अपनी विलक्षण प्रतीति के कारण द्रव्य गुण कर्म से भिन्न मानी है (१ । २ । ८–१०) वैसे समवाय अपनी विलक्षण प्रतीति के कारण द्रव्यत्व गुणत्व से भिन्न है। 'यह रूप वाला है,' यह इस की विलक्षण प्रतीति है।

तत्त्वं भावेन ॥ २८ ॥

एक होना सत्ता से व्याख्यात है।

व्या–जैसे 'सत् सत्' इस एकाकार प्रतीति से सत्ता एक है, वैसे द्रव्य में गुण समवेत है, कर्म समवेत है, इस प्रकार एकाकार प्रतीति तो है, भेदक प्रमाण है नहीं, इस लिए लाघव से एक समवाय सिद्ध होता है।

अष्टम अध्याय प्रथम आह्निक।

संगति–अब अष्टम अध्याय में क्रमप्राप्त बुद्धि का सविस्तर वर्णन करते हैं—

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

द्रव्यों में (द्रव्यों के निरूपण में तृतीय अध्याय में) ज्ञान व्याख्यात है (ज्ञान से आत्मा की सिद्धि की है वह ज्ञान अब परीक्षणीय है)।

तत्रात्मामनश्चा प्रत्यक्षे ॥ २ ॥

उन में से आत्मा और मन अप्रत्यक्ष हैं, (यद्यपि 'अहं सुखी' इत्यादि प्रतीति का विषय आत्मा प्रत्यक्ष है, तथापि शरीर आदि से उस का भेद अनुमान साध्य है, जैसा ३ अध्याय में दिखला दिया है)।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्ति विधिरुक्तः ॥ ३ ॥

जहां ज्ञान बतलाया है (तृतीय अध्याय में) वहां ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार कह दिया है । देखो ३ । १ । १८ और ३ । २ । १) अब विशेषरूप से उस की उत्पत्ति दिखलाते हैं।

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्ते र्द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

(इन्द्रियों से) सम्बन्ध वाले गुण और कर्म में ज्ञान की उत्पत्ति का कारण द्रव्य होता है (अर्थात इन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध द्रव्य से होता है, द्रव्य में गुण कर्म रहते हैं, इस से गुण और कर्म से सम्बन्ध होता है । जैसे नेत्र का घोड़े से संयोग सम्बन्ध है, उस के काले रङ्ग से और उस की चाल से घोड़े के द्वारा संयुक्त समवाय सम्बन्ध है । नेत्र से संयुक्त घोड़ा हुआ है, उस घोड़े में उस का रङ्ग और चाल समवेत हैं । सो संयोग सम्बन्ध से घोड़े का और संयुक्त समवाय सम्बन्ध से घोड़े के रङ्ग और गति का प्रत्यक्ष हुआ है)

सं-अब धर्म ज्ञान और धर्मि ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार बतलाते हैं—

सामान्यविशेषु सामान्यविशेषा भावात् तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

सामान्य विशेषों में सामान्य विशेषों का अभाव होने से उसी से ज्ञान होता है ।

व्या-धर्म धर्मि के ज्ञान में धर्मि का ज्ञान तो अपने धर्म के आश्रय होता है, विना धर्म ज्ञान के धर्मी का ज्ञान नहीं होता।

जैसे रक्त देखे बिना रंग का ऐसा ज्ञान नहीं होता, और नीलादि देखे विना 'नीलरूप' यह ज्ञान नहीं होता। पर जो निरा धर्म है, उस का ज्ञान किसी धर्म से नहीं होता, क्योंकि उस में कोई धर्म तो है ही नहीं। सो उस का ज्ञान अपने स्वरूप से होता है। ऐसे धर्म सामान्य विशेष तथा सामान्य और विशेष हैं, जैसे द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणों में गुणत्व, कर्मों में कर्मत्व इत्यादि, तथा द्रव्य गुण कर्म में सत्ता. और एक २ व्यक्ति में वा एक २ परमाणु में अलग २ विशेष। ये सामन्य विशेष जिन व्यक्तियों में रहते हैं, उन का ज्ञान तो सामान्य विशेष धर्म की अपेक्षा से होता है। पर सामान्य विशेष का अपना ज्ञान स्वरूप से होता है, किसी धर्म से नहीं, क्योंकि सामान्य विशेषों में सामान्य विशेष धर्म नहीं रहते।

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्य गुण कर्मसु ॥५॥

सामन्यविशेष की अपेक्षा वाला (ज्ञान) होता है, द्रव्य गुण कर्म में (यह 'द्रव्य है,' यह द्रव्य को गुण कर्म से अलग कराने वाला ज्ञान है, यह तभी हो सकता है, जब द्रव्य का कोई ऐसा धर्म ज्ञात हो जाए, जो गुणों वा कर्मों में न पाया जाय, और द्रव्यों में सभी में पाया जाय, वही सामान्यविशेष धर्म द्रव्यों में द्रव्यत्व है। इस धर्म की अपेक्षा से द्रव्य ज्ञान होता है। इसी प्रकार 'गुणत्व' इस सामान्यविशेष धर्म की अपेक्षा से गुण, और कर्मत्व इस सामान्यविशेष धर्म की अपेक्षा से कर्म ज्ञान होता है। इसी प्रकार गौ, नील, गमन इत्यादि जाति वाचक द्रव्य गुण कर्म में सर्वत्र जानो।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥६॥

द्रव्य में द्रव्य गुण कर्म (तीनों) की अपेक्षा से भी होता है।

व्या—बैल जो द्रव्य है, उस के विषय में 'घण्टे वाला है' यह ज्ञान घण्टे (द्रव्य) की अपेक्षा से, 'श्वेत है' यह गुण की अपेक्षा से, 'गतिमान् है' यह कर्म की अपेक्षा से होता है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

गुण कर्मों में गुण कर्मों के अभाव से गुण कर्म की अपेक्षा वाला (ज्ञान) नहीं होता है।

सं—सापेक्ष ज्ञान को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्य बुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥ ९ ॥

(श्वेतता के) समवाय वाले द्रव्य की श्वेतता के कारण से और श्वेतता के ज्ञान से श्वेत (शंख आदि) का ज्ञान होता है। ये दोनों (ज्ञान) आपस में कारण कार्य हैं।

व्या—सापेक्ष ज्ञान इस प्रकार का होता है। आंखों के सामने शंख पड़ा है। उस के विषय में जो यह ज्ञान हुआ कि यह श्वेत शंख है, यह ज्ञान तब हुआ है, जब पहले शंख की श्वेतता जानली है। सो जैसे पहले दण्ड का ज्ञान हो कर पीछे दण्डी का ज्ञान होता है, इसी प्रकार पहले समवाय से श्वेतता का ज्ञान हो कर पीछे श्वेत (श्वेतता वाला) ज्ञान होता है। जैसे वहां दण्ड ज्ञान कारण है, और दण्डी ज्ञान कार्य है, वैसे यहां श्वेतता ज्ञान कारण है, और श्वेत ज्ञान कार्य है। इसी प्रकार सर्वत्र विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान को कारणता होती है।

सं०-प्रश्न-जैसे क्रम से होने के कारण श्वेतता ज्ञान कारण और श्वेत ज्ञान कार्य है, वैसे जहां क्रम से घट ज्ञान के पीछे पटज्ञान हुआ, वहां भी क्या घट ज्ञान और पटज्ञान का कार्यकारणभाव होता है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं—

द्रव्येष्वनितरेतर कारणाः ॥ १० ॥

द्रव्यों में (ज्ञान) एक दूसरे के कारण वाले नहीं होते।

व्या-ये जो क्रम से घट पट आदि ज्ञान होते हैं, इन में पहला ज्ञान दूसरे का कारण नहीं होता, क्योंकि—

कारण यौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादि बुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥ ११ ॥

कारणों के इकट्ठा न होने से कारणों के क्रम से घट पट आदि ज्ञानों का क्रम है, न कि कार्य कारण भाव से।

व्या-आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध ज्ञान का कारण है। अब घट ज्ञान के पीछे जो पट ज्ञान हुआ है, वह इस लिए नहीं, कि घट ज्ञान पट ज्ञान का कारण है। ऐसा होता, तो पट ज्ञान कभी घट ज्ञान के बिना होता ही न, किन्तु क्रम से इस लिए हुआ, कि नेत्र का संयोग पहले घट से हुआ है, पीछे पट से हुआ है। इस लिए घट का ज्ञान पहले और पट ज्ञान पीछे हुआ है। जहां द्रव्य विशेषण रूप से प्रतीति होता है, जैसे दण्डी में दण्ड, वहां दण्ड ज्ञान को दण्डी ज्ञान के प्रति कारणता है।

अष्टम अध्याय–द्वितीय आह्निक।

संगति–अब ज्ञान की अपेक्षा वाले ज्ञान दिखलाते हैं—

अयमेष त्वयाकृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

'यह, यह, तूने किया, इस को भोजन करा,' यह ज्ञान की अपेक्षा से होता है।

दृष्टेषु भावाद दृष्टेष्व भावात् ॥ २ ॥

देखे हुओं में होने से, न देखे हुओं में न होने से।

व्या–'यह' उस के लिए कहा जाता है, जो प्रत्यक्ष हो, 'तूने' भी प्रत्यक्ष के विषय में कहा जाता है। 'इस को भोजन करा' तब कहा जाता है, जब दोनों प्रत्यक्ष हों, जिस को भोजन कराना है, वह भी, और जिस को आज्ञा दी है, वह भी। इस लिए कहा है, 'कि यह ज्ञान की अपेक्षा से होता है'।

सं–इन्द्रियार्थ सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति कही है (३।१।१८, ३।२।१)। अब अर्थ और इन्द्रियों का स्वरूप बतलाते हैं—

अर्थ इति द्रव्यगुण कर्मसु ॥ ३ ॥

अर्थ यह द्रव्य गुण कर्म में होता है (द्रव्य गुण कर्म तीनों अर्थ हैं, और तीनों ही अर्थ हैं)।

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

द्रव्यों में पञ्चात्मक होना प्रतिषेध कर दिया है।

व्या–द्रव्य प्रकरण में (४।२।२) शरीर आदि का पञ्चात्मक होना निषेध कर दिया है। इस से सिद्ध है, कि इन्द्रिय भी

पञ्चात्मक नहीं, किन्तु एक २ भूत का कार्य हैं। हां अणुओं का संयोग प्रतिषिद्ध नहीं।

भूयस्त्वाद्गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः।५

बहुत अधिक होने से गन्ध वाला होने से पृथिवी गन्ध ग्राहक (इन्द्रिय) में कारण है।

घ्राण-इन्द्रिय गन्ध का प्रकाशक होने से निश्चित होता है, कि इस में गन्ध प्रधान है, गन्ध की प्रधानता तब हो सकती है, जब इस में जल आदि की अपेक्षा पृथिवी का भाग बहुत अधिक हो। इस से सिद्ध है, कि पृथिवी घ्राण का कारण है। जैसे यह है—

तथाऽऽपस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेऽविशेषात् ॥ ६ ॥

वैसे जल तेज और वायु (क्रमशः) रस, रूप और स्पर्श के ग्राहक (रसना, नेत्र और त्वचा इन्द्रिय) में कारण हैं।

अध्याय नवम—आह्निक प्रथम।

स-नवम के प्रथम आह्निक में अभावों का प्रत्यक्ष बतलाना चाहते हुए अभावों के भेद बतलाते है—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

क्रिया और गुण के व्यवहार का अभाव होने के कारण पहले अभाव होता है।

व्या—जो यह मानते है, कि उपादान में उपादेय पहले ही विद्यमान होता है, मट्टी में घड़ा पहले ही विद्यमान है, उत्पत्ति के अर्थ यही हैं, कि अब प्रकट होगया है। इस मत का खण्डन करते है, कि यह जो उत्पत्ति से पीछे उपलब्ध होता है, वह

सव उत्पत्ति में पहले असव होता है, क्योंकि जो सव है, उस का क्रिया और गुण से व्यवहार होता है। पर घड़ा 'चलता है, घड़ा लाल है,' उत्पत्ति से पूर्व यह व्यवहार नहीं होता, इस लिए उस समय उस का अभाव है। यह जो उत्पत्ति से पहले अभाव है, यह प्रागभाव कहलाता है।

सदसत् ॥ २ ॥

विद्यमान हुआ, असव हो जाता है।

व्या-और यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है, कि विद्यमान भी घड़ा आदि मुद्गर के प्रहार आदि से असव् हो जाता है। इस अभाव का नाम ध्वंसाभाव है।

सं-जो यह मानते हैं, कि नाश घड़े की एक अवस्था विशेष है, घड़े से भिन्न अभाव विशेष नहीं, उन को उत्तर देते है—

असतः क्रियागुण व्यपदेशा भावा दर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

जो नहीं है, उसी के क्रिया गुण का व्यवहार नहीं होता, इस कारण यह (नाश भी) एक अलग पदार्थ है।

सं-तीसरा अन्योऽन्या भाव बतलाते है—

सच्चा सत् ॥ ४ ॥

सव भी असव होता है

व्या-'घड़ा वस्त्र नहीं है,' इस प्रतीति में घड़ा अपने रूप से सव प्रतीत होता है, और वस्त्वन्तर के रूप से असव भासता है, इस प्रतीतिसिद्ध अभाव का नाम अन्योऽन्याभाव वा भेद है।

सं-चौथा अत्यन्ताभाव बतलाते हैं—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५ ॥

और जो इस से (पूर्वोक्त तीनों प्रकार के अभाव से) भिन्न अभाव है, (जैसे मनुष्य के सींग नहीं है) एक यह अभाव है (जो अत्यन्ताभाव कहलाता है)

सं-चारों अभावों का निरूपण करके ध्वंस के प्रत्यक्ष का निरूपण करते हैं—

असदिति भूत प्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

'नहीं है' यह प्रत्यक्ष, हो चुके हुए के प्रत्यक्ष न होने से और हो चुके हुए की स्मृति से विरोधि के प्रत्यक्ष की नाईं होता है ।

व्या-जिस का अभाव है, वह उस का प्रतियोगी वा विरोधी कहलाता है, जैसे घटाभाव का प्रतियोगी वा विरोधि घट है । जब घट विद्यमान है, तो 'यह घड़ा है' ऐसा प्रत्यक्ष होता है । अब जब घड़ा असद् हो गया है, तो 'अब घड़ा नहीं है' इस प्रकार उस के अभाव का प्रत्यक्ष भी ठीक वैसा ही होता है, जैसे उस के विरोधी का (घट का) होता था । इस ध्वंस के प्रत्यक्ष का कारण यह है, कि भूत घट का अब प्रत्यक्ष नहीं है, और स्मृति उस की बनी है, कि था । यदि वह होता, तो प्रत्यक्ष होता, नहीं रहा है, इस लिए प्रत्यक्ष नहीं होता है, ऐसे ज्ञान की सहायता से घट के नाश का वैसा ही प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट का ।

संगति–प्राग भाव का प्रत्यक्ष भी इसी रीति से होता है, यह दिखलाते है—

तथाऽभावे भाव प्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

(जैसे ध्वंस में प्रत्यक्ष होता है) वैसे प्रागभाव में (प्रत्यक्ष होता है) सामग्री के प्रत्यक्ष होने से (जब चाक पर चढ़ी हुई मट्टी देखली, तो घड़े का प्रागभाव प्रत्यक्ष हो जाता है, कि अभी घड़ा नहीं है, अब होगा)।

सं–अन्योऽन्या भाव की प्रत्यक्षता दिखलाते हैं—

एतेनाघटोऽगौर धर्मश्च व्याख्यातः ॥८॥

इस से 'यह अघट है, यह अगौ है, यह अधर्म है' यह व्याख्या किया गया (अघट है घड़े से भिन्न है। जब घड़ा प्रत्यक्ष है, तो घड़े से भेद भी प्रत्यक्ष होगा इत्यादि)।

सं–अत्यन्ताभाव का भी प्रत्यक्ष कहते है—

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

हुआ नहीं, है नहीं, यह एक ही बात है।

व्या–अत्यन्ताभाव की प्रतीति दो प्रकार से होती है, मनुष्य का सींग कभी हुआ ही नहीं वा मनुष्य का सींग नहीं है। यह दोनों प्रकार का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

नास्ति घटोगेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्ग प्रतिषेधः ॥ १० ॥

'नहीं है घड़ा घर में' यह विद्यमान घड़े का घर से संयोग का निषेध है, यह प्रतीति अत्यन्ताभाव से विलक्षण है। पर ग्रन्थ

कारों ने इस को भी अत्यान्ताभाव के अन्तर्गत माना है, कइयों ने सामयिकाभाव नाम से यह अलग पांचवां अभाव माना है)

सं-लौकिक प्रत्यक्ष की परीक्षा की गई, अब अलौकिक की परीक्षा करते हुए कहते हैं—

आत्मन्यात्म मनसोः संयोगविशेषादात्म प्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

आत्मा में आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है ।

व्या-यद्यपि 'अहं सुखी' इत्यादि प्रतीति से सब को अपने आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, तथापि उस प्रत्यक्ष में आत्मा का शरीर से भेद प्रत्यक्ष नहीं होता । इस लिए आत्मा को अप्रत्यक्ष कहा है (८ । १ । २) । पर जब योग से पुरुष अपने स्वरूप को देखता है। तब योग समाधि द्वारा जो आत्मा और मन का संयोग होता है, उस संयोग विशेष से हस्ता मलक वत् आत्मा का प्रत्यक्ष होता है । और जैसे यह आत्मा का प्रत्यक्ष होता है—

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२ ॥

वैसे अन्य द्रव्यों (सूक्ष्म द्रव्यों परमाणु आकाश आदि) में भी प्रत्यक्ष होता है ।

असमाहितान्तः करणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च ॥ १३ ॥

जिन का अन्तःकरण समाधि रहित है, जो समाधि को समाप्त कर चुके हैं, उन को भी प्रत्यक्ष होता है ।

व्या—योगी दो प्रकार के होते हैं। युञ्जान और युक्त। युञ्जान जो मन को एकाग्र करके समाधि लगा सकते हैं। वे समाधि में जाकर जब अपने मन को आत्मा में लगाते हैं, तब उनको आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, किसी और द्रव्य में लगाते हैं, तो उसका प्रत्यक्ष होता है। दूसरे युक्त वे कहलाते हैं, जो समाधि को समाप्त कर चुके हैं, उन को आत्मा सदा प्रत्यक्ष रहता है। अतएव उन को आत्म प्रत्यक्ष के लिए समाधि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी तरह दूसरे द्रव्यों के प्रत्यक्ष के लिए भी समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, जब जिस में मन को लगाएं, उसी को प्रत्यक्ष कर लेते हैं, इन युक्त योगियों के प्रत्यक्ष का इस सूत्र में वर्णन है। पूर्व जो आत्मसंयोगविशेष से प्रत्यक्ष कहा है, वह युञ्जान योगियों के लिए कहा है। प्रत्यक्ष दोनों को ही होता है, भेद यह होता है, कि युञ्जान योगियों को तो समाधि लगाने से प्रत्यक्ष होता है, और युक्त योगियों को समाधि की आवश्यकता नहीं रहती।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

उन (द्रव्यों) में समवेत होने से कर्म गुणों में (युक्त युञ्जान दोनों को प्रत्यक्ष होता है)।

आत्म समवायादात्म गुणेषु ॥ १५ ॥

आत्मा में समवेत होने से आत्मा के गुणों में (प्रत्यक्ष होता है)।

नवम अध्याय-द्वितीय आह्निक ।

संगति-प्रत्यक्ष का निरूपण किया, अब अनुमान का निरूपण करते हैं—

अस्येदं कार्यकारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

इस का यह-कार्य है, कारण है, संयोगि है, विरोधि है, और समवायि है, यह लिङ्ग जन्य (ज्ञान) है ।

व्या-कार्य से कारण का, कारण से कार्य का, संयोगि से संयोगि का, विरोधि से विरोधि का, समवायि से समवायि का, और एकार्थसमवायि से एकार्थ समवायि का जो ज्ञान होता है, वह लैङ्गिक=लिङ्ग जन्य=चिन्ह से जाना गया (अनुमान ज्ञान) कहलाता है । कार्य से कारण का अनुमान, जैसे नदी की बाढ़ आदि देख कर ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान होता है । कारण से कार्य का अनुमान, जैसे मेघ की उन्नति विशेष देख कर वृष्टि का अनुमान होता है । शेष उदाहरण पूर्व (३ । १ । ९ में) दिखला दिये हैं ।

सं-अनुमान की सत्यता का परिचायक क्या है, इस पर कहते हैं—

अस्येदं कार्यकारण सम्बन्धश्चावयवाद् भवति २

'इस का यह है' इस प्रकार कार्य कारण का सम्बन्ध अवयव से होता है ।

व्या-इस का यह कार्य है, इस का यह कारण है, इस प्रकार कार्य कारण का सम्बन्ध अनुमान वाक्य के अवयव

से होता है। जैसे धूम से अग्नि के अनुमान में वाक्यप्रयोग इस प्रकार होगा।

पर्वत अग्निमान् है, (प्रतिज्ञा) क्योंकि धूम वाला है (हेतु) रसोई की तरह (उदाहरण) यहां धूम कार्य है, उस से धूम के कारण अग्नि का अनुमान है। धूम और अग्नि में कार्यकारण सम्बन्ध है, इस का परिचायक उदाहरण रसोई है, क्योंकि वहां अग्नि और धूम का कार्यकारण भाव सम्बन्ध प्रत्यक्षदृष्ट है। कार्यकारणभावसम्बन्ध उपलक्षण है, इसी प्रकार संयोग सम्बन्ध विरोध सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध और एकार्थ समवाय सम्बन्ध भी उदाहरण से जाने जाते हैं।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

इस से शब्दजन्य ज्ञान व्याख्या किया गया।

व्या–कणाद के मत में दो ही प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। शब्द भी अनुमान के ही अन्तर्गत है, कोई अलग प्रमाण नहीं। क्योंकि जैसे लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का ज्ञान होता है, वैसे ही शब्द को सुनकर उस के संकेतित अर्थ का अनुमान होता है, कि इस अर्थ को बोधन करने के लिए इसने ये शब्द कहे हैं। आगे यह जो कुछ कह रहा है, सच कह रहा है वा झूठ कह रहा है। यह निश्चय वा संशय कहने वाले की योग्यता अयोग्यता के ज्ञान से होता है, इसलिए यह भी अनुमान के अन्तर्गत है।

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण और करण (ये सब) एक वस्तु हैं (अपदेश शब्दव्यवहार का नाम है. और अपदेश लिङ्ग का पर्यायवाचक है । इस से भी सिद्ध है, कि शब्द व्यवहार लिङ्ग विशेष है, और शब्द ज्ञान लैङ्गिक ज्ञान है)

अस्येद मितिबुद्ध्य पेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

'इस का है यह' इस बुद्धि की अपेक्षा वाला होने से

व्या–जैसे लैङ्गिक ज्ञान में 'यह इस का है' अर्थात् धूम अग्नि का है। नदी की बाढ़ दृष्टि की है, इत्यादि परस्पर नियत सम्बन्ध का ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान में 'यह इस वाक्य का अर्थ है' इत्यादि नियत सम्बन्ध का ही ज्ञान होता है। इस लिए शब्द अनुमान के अन्तर्गत है। इसी प्रकार 'गवय गौ की नाई होता है' यह सुन कर वन में गौ की नाई पशु को देख कर 'इस का नाम गवय है' यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है। यह उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत है । यहां भी 'गोसदृश 'पशु का नाम गवय है' यह नियत सम्बन्ध प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'यह हट्टा कट्टा चैत्र दिन को कुछ नहीं खाता है' इतना सुन कर सुनने वाला जो यह परिणाम निकालता है, 'अर्थात् रात को खाता है' यह अर्थापत्ति भी अनुमान के अन्तर्गत है। क्योंकि यहां भी हट्टा कट्टा बने रहने का और पुष्ट भोजन का नियत सम्बन्ध है। और 'यहां घड़ा नहीं है' यह जो अभाव का ज्ञान है, वह घड़े की अनुपलब्धि से होता है. यह अनुपलब्धि भी अलग प्रमाण नहीं किन्तु अभावज्ञान प्रत्यक्ष से होता है. यह पूर्व दिखला दिया है। 'इस के पास लाख रुपया है' । इस से जो उस के पास सहस्र रुपयों का होना विज

कहे जाना जाता है, यह सम्भव प्रमाण भी अनुमान के अन्तर्गत है. क्योंकि लक्ष का सम्बन्ध सौ सहस्र के साथ नियत है। हाथ वा सिर आदि अंगों की चेष्टा से जो ज्ञान होता है, वह भी अनुमान के अन्तर्गत है। इस प्रकार दो ही प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान सारे प्रमेयों के साधक होने से प्रमाण दो ही हैं।

संगति–परीक्षित प्रत्यक्ष और लैङ्गिक ज्ञान अनुभव रूप है। अब स्मृति रूप ज्ञान की परीक्षा करते है—

आत्म मनसोः संयोगविशेषात् संस्कारा च्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

आत्मा और मन के संयोग विशेष और संस्कार से स्मृति होती है।

व्या–जब कोई वस्तु अनुभव होती है, तो उस के अनुभव का संस्कार आत्मा पर होता है। फिर जब कभी पुरुष उधर मन को लगाता है, वा कोई वैसी वस्तु देखता है, तो उस का स्मरण होता है। यह जो मन को लगाना आदि है, यही आत्मा और मन का संयोग विशेष है, इस संयोगविशेष से और पूर्वले संस्कार से स्मृति होती है।

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

वैसे (स्मृति की नाईं आत्मा मन के संयोगविशेष से और पूर्वले संस्कार से) स्वप्न होता है (स्वप्न मानस भ्रम होता है)।

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

(वैसे) स्वप्न के मध्य में ज्ञान।

व्या–स्वप्न में ही देखी वस्तु को फिर स्वप्न में ही देखता है वा स्वप्न के अन्दर ही यह ज्ञान हो जाता है, 'कि यह तो स्वप्न था,' यह स्वप्नान्तिक ज्ञान भी आत्मा मन के संयोगविशेष से और पूर्वले संस्कार से ही होता है। भेद केवल इतना है, कि स्वप्न ज्ञान अधिक पूर्व के संस्कारों से होता है, और स्वप्नान्तिक तात्कालिक संस्कारों से होता है।

धर्माच्च ॥ ९ ॥

धर्म से भी (स्वप्न होता है, जब कि स्वप्न द्वारा भावि सूचना मिल जाती है)।

सं०–ज्ञान की परीक्षा करके, अब ज्ञान की यथार्थता अयथार्थता की परीक्षा करते हैं—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चा विद्या ॥१०॥

इन्द्रियों के दोष से और संस्कार के दोष से अविद्या होती है।

व्या–इन्द्रियों में दोष होने से प्रत्यक्ष में भूल होती है। और संस्कारों के दोष से अनुमान और स्मृति में भी भूल होती है।

तद्दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

वह दुष्ट ज्ञान है।

अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

दोष शून्य ज्ञान (संशय और भ्रम से शून्य ज्ञान) विद्या है

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

आर्ष ज्ञान (जो ऋषियों को परमात्मा से मिलता है) और सिद्ध दर्शन (जो सिद्धों को योग सामर्थ्य से अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात् दर्शन होता है,) यह धर्मों से होता है (धर्म भावों से हृदय के भरा रहने से होता है)।

अध्याय १० आह्निक १

संगति-बुद्धि के अनन्तर क्रमप्राप्त सुख दुःख की परीक्षा करते हैं—

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥ १ ॥

इष्ट और अनिष्ट कारण के भेद से और परस्पर के विरोध से सुख और दुःख का भेद है।

व्या—सिर पर भार उठा कर गर्मी में मार्ग चलता हुआ पुरुष जब किसी वृक्ष की छाया में पहुंच कर सिर से भार उतार कर बैठता है, तो कहता है, 'मैं सुखी हो गया हूं' वहां उस का दुःख दूर होने के सिवाय कोई और बात नहीं हुई, तो भी वह अपने को सुखी मानता है, इत्यादि दृष्टान्तों से कई लोग यह स्थिर करते हैं, कि दुःखाभाव ही सुख है, सुख कोई अलग वस्तु नहीं, इस मत का खण्डन करते हैं, कि सुख और दुःख दो अलग पदार्थ हैं, क्योंकि इन के कारण में स्पष्ट भेद है। इष्ट की प्राप्ति सुख का कारण है, और अनिष्ट की प्राप्ति दुःख का कारण है। दूसरा इन का आपस में विरोध है। सुख और दुःख दोनों इकट्ठे नहीं होते। इन के कार्य का भी भेद है, सुख से मुख प्रसन्न होता है, दुःख से मुरझा जाता है। इस लिए सुख और दुःख दो अलग २ पदार्थ हैं। दुःखाभाव में जो सुख

व्यवहार है, वह औपचारिक है। उस से सुख की मुख्य प्रतीति का अपलाप नहीं हो सकता।

संगति-'सुख दुःख' ज्ञान की ही अवस्था विशेष हैं, ऐसा मानने वाले को उत्तर देते है—

संशयनिर्णयान्तरा भावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः।२

संशय और निर्णय के अन्दर न होना (दुःख सुख के) ज्ञान से अलग होने में हेतु है।

व्या–ज्ञान के दो विशेष हैं–संशय और निर्णय। सुख दुःख यदि ज्ञान होता, तो इन दोनों में से एक होता, पर वह इन दोनों में से नहीं, क्योंकि संशय दो कोटियों को विषय करता है, और निर्णय एक कोटि को, और सुख दुःख स्वयं विषय रूप हो कर ज्ञात होते हैं, इन का अपना विषय कुछ नहीं होता।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्ष लैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

उन की (सुख दुःख की) सिद्धि प्रत्यक्ष और लैङ्गिक ज्ञान से होती है॥ अभिप्रेत विषय को प्रत्यक्ष करते हुए वा अनुमान से जानते हुए को सुख होता है, और अनभिमत विषय के प्रत्यक्ष और अनुमान में दुःख की सिद्धि होती है। सो प्रत्यक्ष और अनुमान से उत्पन्न होने से सुख दुःख प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है।

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

था यह भी (अर्थात 'पर्वत में अग्नि थी,वा होगी' इस प्रकार ज्ञान का विषय, तो भूत और भविष्यत भी होते हैं, पर सुख दुःख का वर्तमान में भी विषय ही नहीं होता। इससे सुख दुःख ज्ञान रूप नहीं)

सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

होते हुए भी कार्य के न देखने से।

व्या—ज्ञान के कारण, जो विषयइन्द्रियसम्बन्ध वा लिङ्ग ज्ञान है, उन के होते हुए भी कार्य जो सुख और दुःख है, उस का अनुभव नहीं होता है। यदि ये ज्ञान के भेद होते, तो ज्ञान की सामग्री होने पर अवश्य अनुभव होते।

एकार्थ समवायि कारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ६।

एकार्थ समवायि जो और कारण हैं, उन के होते हुए देखने से।

व्या—ज्ञान का समवायी जो आत्मा है, उस में जब तक राग द्वेष आदि (सुख दुःख के कारणान्तर) न हों, तब तक सुख दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। यदि ज्ञान रूप ही होते, तो ज्ञान की सामग्री से अधिक सामग्री की अपेक्षा न रखते।

संगति—यदि कारण के भेद से कार्य का भेद होता है, तो एक ही वीर्य और शोणित से हाथ पैर सिर आदि विलक्षण अंगों की उत्पत्ति कैसे होती है? इस का उत्तर देते है—

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥

(एक शरीर में) एक देश में जो सिर, पीठ, पेट, मर्म इत्यादि उस के विलक्षण अङ्ग हैं, वे विलक्षण कारणों से होते हैं (अर्थात् एक ही बीज में विलक्षण अवयव ही विलक्षण कार्यों के आरम्भक होते हैं)

दशम अध्याय-द्वितीय आह्निक।

संगति-अब प्रसंग से तीनों कारणों की विवेचना करते हैं—

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥ १ ॥

कारण यह द्रव्य में प्रतीति होती है, कार्य के समवाय से

व्या—कार्य रूप द्रव्य, गुण और कर्म तीनों समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहते हैं। वस्त्र कार्य रूप द्रव्य है, वह तन्तुओं में समवेत है, तन्तु द्रव्य हैं। तन्तुओं के गुण और कर्म तन्तुओं के कार्य हैं, वे भी तन्तुओं में समवेत हैं।

संयोगाद् वा ॥ २ ॥

अथवा संयोग से।

व्या—जिस संयोग से द्रव्य की उत्पत्ति होती है (जैसे तन्तु संयोग से वस्त्र की उत्पत्ति है) वह संयोग भी द्रव्य के आश्रय रहता है, इस लिए द्रव्य समवायिकारण है।

कारणे समवायात् कर्माणि ॥ ३ ॥

कारण में समवाय से कर्म (कारण हैं)।

व्या—द्रव्य कारण कहा है, उस में समवेत होने से कर्म संयोग विभाग और वेग के असमवायि कारण होते हैं। तोप से छूटे हुए गोले का किले की दीवार से जो संयोग हुआ यह संयोग गोले का हुआ है, इस लिए गोला कारण है। गोले के कर्म से हुआ है, इस लिए कर्म कारण है। गोला द्रव्य है, वह समवायि कारण है, कर्म इस समवायि कारण में समवाय से रहता है, इसलिए वह असमवायि कारण है। इसी [illegible] गोले [illegible] तोप से विभाग हुआ

है, उस विभाग का गोला समवायि कारण है, गोले का कर्म असमवायि कारण है। गोले में जो वेग उत्पन्न हुआ है, उस वेग का गोला समवायि कारण है, गोले का कर्म असमवायिकारण है।

तथारूपं कारणैकार्थ समवाया च ॥ ४ ॥

वैसे रूप (कारण) है, कारण के साथ एक अर्थ में समवाय से।

व्या–कर्म की नाईं कारण में समवाय से रूप भी असमवायि कारण होता है। तन्तु वस्त्र का कारण हैं, उस कारण (तन्तुओं) में समवेत रूप, वस्त्र के रूप का कारण है। क्योंकि वस्त्र के रूप का कारण जो वस्त्र है, वह वस्त्र भी तन्तुओं में समवेत है, और तन्तुओंका रूप भी तन्तुओं में समवेत है। इस सम्बन्ध से अर्थात् कारण के साथ एक अर्थ में समवाय से, अवयवों का रूप अवयवी के रूप का असमवायि कारण होता है। रूप उपलक्षण है–अर्थात् रस गन्ध स्पर्श परिमाण पृथक्त्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह भी इसी प्रकार कार्य गुणों के प्रति असमवायि कारण होते हैं।

सं–गुण गुणों के असमवायि कारण कहे। अब संयोग गुण को द्रव्य का असमवायि कारण बतलाते हैं–

कारण समवायात् संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

कारण (तन्तुओं) में समवाय से संयोग (तन्तु संयोग) वस्त्र का (असमवायि कारण) है।

कारण कारण समवायाच्च ॥ ६ ॥

कारण के कारण में समवाय से भी (असमवायि कारण होता है। जैसे पूर्व रूप बतलाया है। वस्त्र के रूप का कारण है

वस्त्र, उस वस्त्र का कारण जो तन्तु हैं, उन में समवाय से जो रूप है, वही वस्त्र के रूप का कारण है ।

सं०-निमित्त कारण बतलाते हैं—

संयुक्त समवायादग्नेर्वैशेषिकम् । ७ ।

संयुक्त समवाय से अग्नि का विशेष गुण (उष्णता) कारण होता है ।

व्या—यह जो अग्नि की उष्णता है, यह संयुक्त समवाय से पृथिवी के गन्ध रस रूप स्पर्श का निमित्त कारण है, क्योंकि अग्नि की उष्णता के निमित्त से पृथिवी के गन्ध रस रूप स्पर्श बदलते हैं। सम्बन्ध यहां संयुक्त समवाय है। पृथिवी से संयुक्त हुआ अग्नि, उस अग्नि में समवाय से उष्णता रहती है ।

संगति-पदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य से निरूपण किया, उन्हीं के तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु मोक्ष का हेतु तत्त्वज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है, यह पूर्व (१ । १ । ४) कहा है, उसी धर्म विशेष पर दृढ श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए धर्म का गौरव दिखलाते हुए उपसंहार करते हैं—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय । ८ ।

(शास्त्र में) बतलाए गए फलों वाले, (शास्त्र में) बतलाए गए कर्मों का अनुष्ठान, दृष्ट के अभाव में अभ्युदय (आत्मबल की उन्नति) के लिए होता है ।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥ ९ ॥

यह सूत्र पूर्व (१ । १ । ३) व्याख्यात है । इति शब्द समाप्ति सूचक है ॥

इति वैशेषिक दर्शनम् ।

शास्त्रार्थ संग्रह।

१—हमारे सारे कार्य्य प्रतीति और व्यवहार मे चलते हैं। प्रतीति स्वय जानने, और व्यवहर दूसरे को बतलाने का नाम है।

२—प्रतीति से जो सिद्ध हो, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ अर्थात पद का अर्थ, क्योंकि जो कुछ भी प्रतीत होता है, उस के बतलाने में अवश्य कोई पद बोला जाता है, अतः पद का अर्थ होने से पदार्थ कहलाता है।

३—पदार्थ छः हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष।

४—इन में से द्रव्य धर्मी है। गुण और कर्म उस के धर्म हैं। सामान्य और विशेष द्रव्य गुण कर्म तीनों के धर्म हैं सम-वाय पांचों का धर्म है।

५—द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन।

६—(१) पृथिवी=मट्टी। यह स्थूल भूमि, ईंट पत्थर, वृक्ष, प्राणधारियों के शरीर सब पृथिवी हैं। (२) जल=पानी (३) तेज, जिस का धर्म गर्मी है—अग्नि तेज है, और जिस किसी द्रव्य में गर्मी है, वह सब उस में स्थित तेज की है। (४) वायु प्रसिद्ध वायु (५) आकाश, जिस का गुण शब्द है (६, ७) काल और दिशा जो प्रसिद्ध हैं (८) आत्मा, शरीरों के भीतर जो जानने वाला है (९) मन, उस आत्मा के पास जो जानने का साधन है। इन में पृथिवी सब से स्थूल है, उस से सूक्ष्म जल, उस से सूक्ष्म तेज, उस से सूक्ष्म वायु। ये पृथिवी जल तेज वायु जो हमारे इन्द्रियों का विषय हैं, ये सावयव है, अव-

एव नाशवान् हैं, पर जिन मूल अवयवों से ये बने हैं, वे नाशवान् नहीं हैं, वे परमाणु कहलाते हैं। सो पृथिवी जल तेज वायु के परमाणु नित्य हैं, और ये जो स्थूल पृथिवी जल तेज वायु हैं, ये अनित्य हैं। आकाश एक ही सारे व्यापक है, अतएव नित्य है। काल का न आदि न अन्त है, अतएव वह एक है और नित्य है। अखण्ड काल एक ही है, पर व्यवहार के लिए उस के भूत भविष्यत् वर्तमान भेद माने जाते हैं। दिशा का भी न आदि है, न अन्त है, अतएव वह भी नित्य है, अखण्ड दिशा एक ही है, पर व्यवहार के लिए उस के चारों पासों की दृष्टि से चार, कोणों को मिलाकर आठ और ऊपर नीचे को मिलाकर दस वा चार के साथ मिला कर छः मानी जाती हैं। आत्मा हरएक शरीर में अलग है, मन हरएक के साथ अलग है। आत्मा व्यापक है और मन अणु है।

७–गुण २४ हैं–(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) विभाग (१०) परत्व (११) अपरत्व (१२) गुरुत्व (१३) द्रवत्व (१४) स्नेह (१५) शब्द (१६) बुद्धि (१७) सुख (१८) दुःख (१९) इच्छा (२०) द्वेष (२१) प्रयत्न (२२) धर्म (२३) अधर्म (२४) संस्कार।

८–(१) रूप, श्वेत नीला पीला आदि कई प्रकार का है। सब रूप आंख से देखे जाते हैं (२) रस, मधुर, खट्टा आदि कई प्रकार का है, सब रस रसना से जाने जाते हैं (३) गन्ध, के दो भेद हैं सुगन्ध और दुर्गन्ध, सारे गन्ध घ्राण से जाने जाते हैं (४) स्पर्श, तीन प्रकार का है शीत, ऊष्ण, अनुष्णा

शीत। सब प्रकार के स्पर्श त्वचा से जाने जाते हैं (५) संख्या= गिनती (६) परिमाण=माप, दीर्घत्व महत्व आदि (७) पृथक्त्व =पृथक् पन (८) संयोग=मेल (९) विभाग (१०, ११) परत्व, अपरत्व=दूरी निकटता, वा बड़ाई छुटाई (१२) गुरुत्व =भार (१३) द्रवत्व=बहने का धर्म (१४) स्नेह=बिखरे हुए कणों को मिलाने का हेतु गुण (१५) शब्द वर्ण रूप वा ध्वनि रूप, सब प्रकार के शब्द वर्ण से जाने जाते हैं (१६, २१) बुद्धि=ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न=काम में लगने की शक्ति (२२,२३) धर्म=पुण्य के संस्कार, अधर्म=पाप के संस्कार जो आत्मा पर पड़ते हैं (२४) संस्कार, कर्म का जनक वेग, स्मृति का जनक भावना, और पूर्वली अवस्था में लाने वाला स्थिति स्थापक।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चार गुणों में से पृथिवी में चारों हैं, जल में गन्ध नहीं, शेष तीनों हैं, तेज में रस भी नहीं, शेष दो हैं, वायु में रूप भी नहीं, केवल स्पर्श है।

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये पांच गुण द्रव्यमात्र के धर्म हैं।

परत्व, अपरत्व=आयु में बड़ा वा छोटा होना, ये दो उन के धर्म हैं, जो काल की सीमा में हैं, अर्थात् उत्पत्ति नाश वाले हैं जो नित्य हैं, उन के ये धर्म नहीं हैं। और दूर निकट होना, ये उनके धर्म हैं, जो दिशा की सीमा में हैं, अर्थात् पृथिवी, जल तेज, वायु और मन के. विभु के ये धर्म नहीं होते।

गुरुत्व, भार, हरएक तौल वाली वस्तु का धर्म है। द्रवत्व =बहना, यह धर्म जल का तो स्वतः सिद्ध है, पर लोह आदि

धातु और घी आदि भी तपाए हुए बहने लगते हैं । स्नेह =जोड़ने का धर्म भी जल का है ।

शब्द केवल आकाश का धर्म है ।

बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और भावना ये केवल आत्मा के गुण हैं ।

वेग उन का गुण है, जो दिशा की सीमा में हैं अर्थात् मूर्त हैं।

(९) कर्म पांच हैं-उत्क्षेपण=ऊपर फैंकना, अपक्षेपण= नीचे फैंकना, आकुञ्चन=सकोड़ना, प्रसारण=फैलाना, गमन= अन्य सब प्रकार की क्रिया ।

(१०) जिस धर्म से भिन्न व्यक्तियें एक श्रेणि की प्रतीत होती हैं, वह **सामान्य** कहलाता है, जैसे पशुओं में पशुत्व, मनुष्यों में मनुष्यत्व ।

(११) जिस धर्म से व्यक्तियों में विशेषत्व प्रतीत होता है, वह **विशेष** कहलाता है ।

(१२) समवाय, धर्म का धर्मी के साथ जो सम्बन्ध है, वह समवाय है ।

इति वैशेषिक शास्त्रार्थ संग्रहः ।

वैशेषिक दर्शन की विषयानुक्रमणी ।

भूमिका ।

द्वितीयाध्याय प्रथम आह्निक

द्वि० ध्याय द्वितीय आह्निक

तृतीयाध्याय प्रथम आह्निक

तृतीयध्याय द्वितीय आह्निक

चतुर्थाध्याय, प्रथमआह्निक

चतुर्थाध्यायद्वितीयआह्निक

पञ्चमाध्याय, प्रथम आह्निक

पञ्चमाध्यायद्वितीयआह्निक